पातञ्जल योगदर्शन

[हिन्दी टीका सहित]

—: लेखक :—

श्री १००८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

मूल्य — [illegible]

2-50P

पातञ्जल योगदर्शन

[हिन्दी टीका सहित]

—: लेखक :—

श्री १००८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

मूल्य—१.५० न०पै०

भूमिका

पातञ्जल योग दर्शन भारतीय आध्यात्मिक विज्ञान एवं मनोविज्ञान का सर्वोपरि, सर्वमान्य तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। साधकों के लाभार्थ संस्कृत तथा हिन्दी में इस पर कई टीकाओं की रचना हुई, जिनमें से महर्षि व्यास का भाष्य और उस पर वाचस्पति मिश्र की टीका एवं भोजवृत्ति प्रामाणिक माने जाते हैं। इसी सम्बन्ध में यह एक और प्रयत्न है, जिसमें बड़ी संक्षिप्त और सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया गया है।

आध्यात्मिक जिज्ञासुओं में से कुछ लोग ऐसे विचार के भी हैं जो मोक्ष-प्राप्ति के लिए योगिक साधनों को अनावश्यक मानते हैं और श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा वेदान्त विचार को ही पर्याप्त समझते हैं। परन्तु यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन से पूर्व साधनचतुष्टय द्वारा चित्त-शुद्धि करके भूमिका तैयार करने की आज्ञा है। चित्त-शुद्धि द्वारा दृढ़ भूमि हुए बिना महावाक्यों का श्रवण, मनन फलीभूत होने की आशा करना व्यर्थ है। चित्त-शुद्धि ही पातञ्जल योग दर्शन का प्रयोजन है, जैसा कि योग की परिभाषा 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' से स्पष्ट है। साधन चतुष्टय और अष्टाङ्ग योग में प्राणायाम को छोड़कर कोई विशेष अन्तर भी प्रतीत नहीं होता, अपितु भगवान् शङ्कराचार्य ने तो अपरोक्षानु-

भूति और विवेक चूड़ामणि में कई स्थलों पर योग शास्त्र का आश्रय लिया है। ब्रह्म सूत्र में 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' और उस पर शांकर भाष्य के आधार पर भी कुछ लोग योग साधन के विरुद्ध विचार रखते हैं। परन्तु सूत्र में केवल सांख्य के प्रधानवाद का निराकरण किया गया है, न कि योग की प्रक्रियाओं का। भाष्य में जिस दर्शन का उल्लेख है वह पातञ्जल दर्शन नहीं है, क्योंकि उसका उपक्रम 'अथ तत्व दर्शनोपायो योगः' इस सूत्र से होना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि वह कोई दूसरा ही शास्त्र था, जो आजकल उपलब्ध नहीं है।

प्रथम पाद

आत्मा और बुद्धि दो भिन्न तत्त्व हैं। आत्मा चेतन पुरुष है और बुद्धि अचेतन प्रकृति का अङ्ग है, परन्तु जब आत्मा बुद्धि से युक्त होता है तब वह ज्ञाता, ध्याता, प्रमाता या द्रष्टा कहलाता है क्योंकि बिना बुद्धि के वह कुछ भी नहीं जान सकता। चित्त पर बाह्य जगत् के विषयों का प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है और वह स्वयं भी सत्व, रजो या तमोगुण से क्रमशः कभी शांत, कभी अशांत और कभी मूढ़ अवस्थाओं में बदलता रहता है। बुद्धि में स्थित आत्मा उनको अनुभव किया करता है। चित्त के इन आन्दोलनों को वृत्तियां कहते हैं। आत्मा इनका द्रष्टा बन कर अपने स्वरूप को भूले हुए है। इन वृत्तियों के निरोध रूपी अभाव में वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, इसलिए चित्त की वृत्तियों के निरोध रूपी योग की शिक्षा

इस शास्त्र में दी गई है। बाह्य विषयों का प्रतिबिम्ब चित्त पर लाने के लिए जब मन सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियां द्वार का काम करती हैं, तब वे बहिर्मुखी कहलाती हैं। उनके अन्तर्मुखी होने पर उनका बाह्य विषयों से सम्बन्ध टूट जाता है। इसलिए विवेक, वैराग्य सहित अनेक उपायों का अभ्यास करना पड़ता है। वह श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वक कहा गया है। श्रद्धा से आदर-सत्कार सहित, वीर्य से उत्साह-धैर्ययुक्त होकर, स्मृति से उसके तमोगुण-रजोगुण से शुद्ध होने पर, समाधि से संप्रज्ञात निरोध द्वारा, प्रज्ञा से ऋतंभरा प्रज्ञा के उदय होने के पश्चात् उसका भी निरोध हो जाने पर निर्बीज समाधि में आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। जैसे आत्मा बुद्धि से युक्त होकर जीव कहलाता है, वैसे ही परमात्मा विश्व-बुद्धि अर्थात् महतत्त्व से युक्त होकर ईश्वर कहलाता है। हमारी बुद्धि महतत्त्व के एक बुद्बुद के समान है, इसलिए ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ। जब वह ईश्वर का ध्यान करता है, तब उसकी गति बुद्धि से ऊपर उठकर महतत्त्व में हो जाने से वह अपने बुद्धिगत संस्कारों से मुक्त हो जाता है।

द्वितीय पाद

दूसरे पाद में साधन का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है। यहां साधन को चार स्तरों पर विभक्त किया गया है—(१) हेय (२) हेय हेतु (३) हान और (४) हानोपाय।

हेय दुःख है, उसका हेतु पांच क्लेश हैं जिनमें अविद्या ही

प्रधान है। अविद्या के हान के लिए क्रिया योग सहित अष्टाङ्ग योग कहा गया है। परन्तु हान का वास्तविक हेतु न क्रिया योग ही है, न अष्टांग योग ही। इनकी उपयोगिता केवल ज्ञान रूपी प्रकाश पर पड़े हुए आवरण को हटाने मात्र में होती है। अविद्या का असली इलाज तो विद्या ही है। ज्यों-ज्यों साधन द्वारा वह आवरण पतला या तनु होता जाता है, ज्ञान का प्रकाश उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और आवरण के सर्वथा क्षीण होने पर ज्ञान का पूर्ण प्रकाश अविद्यांधकार को हटा देता है, जैसे सूर्य अन्धेरे को। यहां इस ज्ञानदीप्ति को विवेक-ख्याति नाम दिया गया है, इसलिए विवेक-ख्याति हानोपाय है। उक्त ज्ञानदीप्ति के उत्कर्ष-क्रम की सात भूमिकाएँ हैं जो तमोगुण, रजोगुण के मल-विक्षेपों के तनु होने के पश्चात् सत्वगुणी आवरण के क्षीण होने के साथ आरम्भ होती हैं। ज्यों-ज्यों सत्व गुण का उत्कर्ष होता जाता है, त्यों-त्यों आवरण क्षयाभिमुख होता जाता है और ज्ञान की दीप्ति बढ़ती जाती है, यहां तक कि अन्त में विवेक-ख्याति का उदय हो जाता है।

तृतीय पाद

तीसरे पाद में विभूति अर्थात् सिद्धियों का वर्णन है। यहां इन सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए साधन बताए गए हैं। यह सब सिद्धियां समाधिजा सिद्धियां हैं, परन्तु समाधि के साथ यह अनिवार्य है कि जिस विषय सम्बन्धी सिद्धि का साधन किया जाय, वह विषय धारणा, ध्यान, समाधि,--तीनों में अव्यभिचारी

रूप से बना रहे। जिस विषय पर धारणा की जाय, यदि वही विषय समाधि तक न रहे, बीच में ही उसके स्थान पर दूसरे विषय का ध्यान आ जाय, तो सिद्धि नहीं मिल सकती। धारणा, ध्यान, समाधि,—तीनों के एक विषयी होने को 'संयम' कहा गया है जो पातञ्जल दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। इसलिए सिद्धियों के लिए साधन करने से पूर्व साधक को संयम पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है। यद्यपि कैवल्य के लिए सिद्धियों की कोई उपयोगिता नहीं, जैसा कि इस पाद के अन्तिम सूत्र में कहा गया है, परन्तु इनकी उपयोगिता अभ्यासार्थ और श्रद्धा बढ़ाने मात्र के लिए है। इस पाद में सिद्धियों के प्राप्त्यर्थ जो क्रम दिया है, उसी क्रम से साधन को बढ़ाना चाहिए, तभी सफलता की आशा करना उचित है, जैसा कि इसी पाद के छटे सूत्र में कहा गया है। सिद्धियों के साथ-साथ योगी की जो भूमिकायें तैयार होती जाती हैं, उनको मधुमती, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कार-शेषा,—इन चार स्तरों पर विभक्त किया गया है। योगाभ्यास का वास्तविक उपयोग आत्मज्ञान प्राप्त करना है और आत्मज्ञान-प्राप्ति के लिए उक्त भूमिकाओं में से गुजरना योगी को आवश्यक है। पुरुष-ज्ञान का साधन ३५वें सूत्र में दिया है। पुरुष-ज्ञान के लिए संयम आवश्यक है। तीसरे पाद का सारतम लक्ष्य पुरुष-ज्ञान समझना चाहिए।

चतुर्थ पाद

साधन पाद कथित योगानुष्ठान का फल अशुद्धि के उत्तरोत्तर

क्षय के साथ-साथ विवेक-ख्याति पर्यन्त ज्ञान-दीप्ति कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि समाधि भी साधन मात्र है, साध्य वस्तु नहीं। साध्य वस्तु कैवल्य पद है और वह सर्वथा विवेकख्याति होने पर ही सम्भव है। सर्वथा विवेक-ख्याति को ही यहां धर्म-मेघ कहा गया है (सूत्र २६ और ३०)। तभी क्लेश और कर्मों की निवृत्ति होती है।

योग दर्शन छः हिन्दू-दर्शनों में से एक है। इसे भारतीय मनोविज्ञान का दर्शन समझना चाहिए। मनोविज्ञान के साथ-साथ यहां पर मनोनिग्रह के साधन एवं निर्विकल्प समाधि की उत्तरोत्तर भूमिकाओं का भी सुस्पष्ट वर्णन किया गया है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की पहुंच इससे कहीं नीचे स्तर तक है।

मनोनिग्रह प्रत्येक आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक होने के कारण इस दर्शन की उपयोगिता जाति, धर्म अथवा अन्य मतावलम्बियों की उपेक्षा-रहित मनुष्यमात्र के लिए एक समान है। ज्ञान-मार्ग के समान ही भक्ति-मार्गावलम्बी भी कई बार इस की आवश्यकता नहीं समझते। वास्तविकता यह है कि अष्टांग योग के प्रथम दो अङ्गों (यम, नियम) के बिना परमार्थसिद्धि प्राप्त होना स्वप्न मात्र है। 'भक्ति का योग दर्शन में स्थान नहीं है',—ऐसी बात नहीं। 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' और 'समाधि सिद्धिः ईश्वरप्रणिधानात्' सूत्रों की व्यापकता इतनी अधिक है कि शरणागति, अनुरक्ति इत्यादि सभी प्रकार के भक्तिभाव ईश्वरप्रणिधान के अन्तर्गत आ जाते हैं।

मन प्रकृति का अंग होने से त्रिगुणात्मक है, इसलिए उसमें किसी-न-किसी गुण की प्रधानता सदा बनी ही रहती है। आत्मा प्रकृति से नित्यमुक्त स्वभाव होने पर भी मन से युक्त होकर सुख-दुःख का भोक्ता कहलाता है।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुमनीषिणः ॥
—कठोपनिषद्

मन से युक्त होने के कारण योग दर्शन ने पांच क्लेश बतलाये हैं, जो पांचों वृत्तियों से भिन्न हैं। इसलिए यहां प्रथम अध्यायोक्त वृत्तियों के साधनों की सफलता के पूर्व दूसरे अध्याय में क्लेशों के निवारण पर बल दिया गया है। श्री भगवान् ने भी गीता में सर्वप्रथम बुद्धि-धृति की शुद्धि होने पर, ध्यान योग द्वारा अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध का शमन हो जाने के पश्चात् ब्रह्मभाव और पराभक्ति का उदय कहा है और पराभक्ति के द्वारा तत्त्वज्ञान की सिद्धि कही गई है। भक्ति का स्थान बहुत ऊंचा है, क्योंकि योगी तो नास्तिक भी हो सकता है। मनोनिग्रह से प्रपंच और परमार्थ-सिद्धि दोनों ही सम्भव हैं, परन्तु योगियों में श्रेष्ठ तो भगवदाभिमुख ही है। इसीलिए भगवद् वाक्य है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमोमतः ॥
—गीता

इसलिए योग, भक्ति, ज्ञान एक ही ध्येय की सीढ़ियां हैं। इन बातों को दृष्टिगोचर रखकर पातञ्जल योग दर्शन की यह टीका सरल शब्दों में साधकों के लाभार्थ लिखी गई है। आशा है पाठक इससे पूर्ण लाभ उठाने की चेष्टा करेंगे।

नारायण कुटी,
संन्यासाश्रम, देवास।
पौष पूर्णिमा, सम्वत् २०१६

—स्वामी विष्णुतीर्थ

लेखक

श्री १००८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

योग-दर्शन

समाधिपाद

१. अथ योगानुशासनम् ।

अर्थ—अथ (अब यहां से) योग-अनुशासन (योग का पूर्व आचार्यों के अनुसार शिक्षण) किया जाता है ।

अथ शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में होता है। १. मङ्गल कार्यों के प्रारम्भ में, २. अधिकारार्थ में, ३. आनन्तर्यार्थ में। कहते हैं कि ॐ और अथ दोनों शब्द सृष्टि के आदि में *ब्रह्माजी के कण्ठ से निकले थे, इसीलिए मङ्गलार्थ में 'अथ' शब्द से यह दर्शन प्रारम्भ होता है। दूसरे अर्थ में अधिकरण का संकेत है अर्थात् जो विषय यहां कहा जाने वाला है, वह स्वतन्त्र विषय है। तीसरे अर्थ में अन्य पूर्वकथित साधन के अनन्तर, उसकी अपेक्षा रखकर नया विषय प्रारंभ किया जाता है। यहां प्रथम दोनों अर्थ ग्राह्य हैं, तीसरा नहीं। योग शब्द की व्युत्पत्ति 'युज् समाधौ' धातु से लेनी चाहिए,

---

* ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकावुभौ ॥

न कि 'युजिर् संयोग' से, जैसा कि प्रथम पाद के नाम समाधिपाद से स्पष्ट है। आचार्य इस पाद में समाधि का वर्णन करने वाले हैं, इसलिए योग शब्द समाधि का वाचक होना चाहिये। अनुशासन का अभिप्राय है कि यह शास्त्र स्वतन्त्र है, तथापि पूर्व आचार्यों की परम्परा लिए हुए है, जैसे योगी याज्ञवल्क्य प्रभृति। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदारण्यकोपनिषद्),—इस श्रुति में याज्ञवल्क्य का अपनी पत्नि मैत्रेयी को सर्वप्रथम आत्म-दर्शन करने का उपदेश है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप क्या है ?,--यह दर्शन करने के पूर्व समझ में नहीं आ सकता और दर्शन होने के लिये श्रुति कहती है कि 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मानमात्मनि पश्यति' (बृहद्)। समाहित होने के लिए निरोध समाधि की उपयोगिता होती है। समाधान को समाधि का पर्याय कहा जा सकता है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा भी योग-वैराग्य के ही रूप हैं। शम से मनोनिग्रह, दम से इन्द्रिय निग्रह, उपरति से विषय-वितृष्णा और तितिक्षा से द्वन्द्वों का सहन करना रूपी तप समझना चाहिए। इसलिए आत्मदर्शन के साधन शमादियुक्त समाधान रूपी योग-विज्ञान को पूर्व आचार्यों की परम्परागत प्रणाली के अनुसार समझाने की इस सूत्र में प्रतिज्ञा की गई है, जैसा कि अगले सूत्रों में कहते हैं—

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

अर्थ—योगः (योग) चित्त (चित्त की) वृत्तीनां (वृत्तियों का) निरोधः (निरोध) है।

योग-साधन के द्वारा ही चित्त की वृत्तियों को रोका जा सकता है। ५ कर्मेन्द्रियां (वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ की वाक्, ग्रहण, गति, विसर्जन और मैथुन की पञ्चविध शक्तियां), ५ ज्ञानेन्द्रियां (श्रवण, दृष्टि, स्पर्श, आस्वाद और सूंघने की पञ्चविध शक्तियां) बाह्यकरण कहलाते हैं। मन (संकल्प-विकल्पात्मक), बुद्धि (विमर्ष अर्थात् समझने की शक्ति), चित्त और अहंकार (मैं का भाव) यह चार 'अन्तःकरण चतुष्टय' कहलाते हैं। दसों इन्द्रियों और मन, बुद्धि, अहंकार सब की पृष्ठ-भूमि चित्त है। इन सब के व्यवहारों की प्रतिक्रिया चित्त पर ऐसे होती रहती है, जैसे जल पर तरंगों की। इस प्रतिक्रिया के आंदोलन को चित्त की वृत्तियां कहते हैं और उनके स्थाई प्रभाव को संस्कार कहते हैं। हमारी समस्त शारीरिक तथा मानसिक चेष्टायें और अनुभव चित्त पर एक तूफान-सा उठाते रहते हैं। उनको रोकने से आत्मा के दर्शन होते हैं अन्यथा नहीं, जैसे जल पर उठने वाली लहरों के शान्त हो जाने पर ही उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है, पहिले नहीं। यह बात तीसरे सूत्र में कही गई है।

३. तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्।

अर्थ—तदा (फिर) द्रष्टुः (द्रष्टा की) स्वरूपे (अपने स्वरूप में) अवस्थानम् (स्थिति) होती है।

आत्मा देह, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सबसे भिन्न है, परन्तु जब वह बुद्धि में स्थिति करता है, तब उसमें अहम् (मैं) की स्फुरणा होती है और वह उन सबके व्यापारों को देखता है। बुद्धि

से वियुक्त होने पर वह कुछ नहीं देखता। इसलिए बुद्धि-संयुक्त आत्मा को द्रष्टा कहते हैं और बुद्धि से पृथक् उसके वास्तविक रूप को स्वरूप कहा गया है। जब तक सिनेमा के परदे पर चित्रों के सदृश चित्त पर वृत्तियों का नाचना-कूदना बना रहता है, तब तक वह उन वृत्तियों को देखा करता है और उनके निरुद्ध हो जाने पर, दीखना बन्द हो जाने के कारण, वह अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस से पूर्व वह चित्त-वृत्तियों को देखता ही नहीं, वरन तदाकार होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है और स्वयं चित्त रूप बनकर वृत्तियों को अपना स्वरूप मानने लगता है, जैसा कि अगले सूत्र में कहा गया है—

४. वृत्तिसारूप्यमितरत्र।

अर्थ—वृत्ति (वृत्तियों की) सारूप्यम् (सरूपता होती है), इत्तरत्र (इस के अतिरिक्त)।

इन दो सूत्रों से आत्मा और चित्त दोनों का रूप, धर्म और पारस्परिक सम्बन्ध भी दिखाया गया है। आत्मा और चित्त दो भिन्न तत्व हैं। आत्मा चेतन प्रकाशक है,—आदित्यवत्। चित्त प्रकृति का अङ्ग अचेतन और प्रकाश्य है,—पुस्तकवत! परन्तु प्रकाश जब पुस्तक को प्रकाशित करता है, तब वह पुस्तक और उस पर लिखे अक्षरों के रूप का ही बन जाता है तथा कागज-स्याही के रंगों में रंग जाता है। इसी प्रकार आत्मा का प्रकाश, जो चेतन है, चित्त को चेतनवत् बना देता है और स्वयं चित्त-रूप बन जाता है। वृत्तियों का निरोध होने पर वह अपनी सत्ता में रहने लगता है, जैसे

पुस्तक के अक्षरों के अभाव में अर्थात् कोरे काग़ज़ पर प्रकाश ! परन्तु तो भी चित्त की तदाकारिता बनी रहती है। स्वयं चित्त भी सत्त्व, रज, तम के प्रभाव से कभी शान्त, कभी चंचल, दुःखी और कभी तमोगुणी अवस्थाओं में परिणित हुआ करता है। शान्त अवस्था को एकाग्र, चंचल को क्षिप्त, तमोगुणी को मूढ़ और दुःख-दौर्मनस्य आदि लक्षणों से युक्त विक्षेपों से (जिनका वर्णन ३०, ३१ सूत्रों में आवेगा) विक्षिप्त कहलाता है। समाधि के लिए इनका निरोध भी अनिवार्य है। इस प्रकार मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध,—५ अवस्थायें चित्त की कही गई हैं। मूढ़ता को हटाने के लिए प्रबोध की आवश्यकता है। विक्षेपों को शमन करना है और एकाग्रता के आनन्दास्वाद रूपी रस से अलग रहना है, तब चित्त निरोधाभिमुख होगा।

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत्॥
नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकी कुर्यात्प्रयत्नतः॥

(माण्डूक्य कारिका, अद्वैत प्रकरण)

योग, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, समाधि का पर्यायी शब्द है। परन्तु दूसरे सूत्र में उसका स्वरूप चित्तवृत्ति निरोध रूप कहा गया है। यहां ऐकान्तिक निरोध नहीं कहा, इसलिए आंशिक निरोध भी समाधि और योग की परिभाषा में आ जाता है।

यद्यपि द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति ऐकान्तिक सवथा निरोध में ही होती है। आंशिक निरुद्ध चित्त की तद्रूपता तो बनी ही रहती है। समाधि की इन आंशिक निरोध की अवस्थाओं का वर्णन आगे आयेगा।

आत्मा और चित्त के सारूप्य का दृष्टान्त स्फटिक मणि और निकट में रक्खे लाल पुष्प से दिया जाता है, जैसे स्फटिक स्वयं रंग नहीं बदलता, परन्तु पुष्प के रंगों से रंगा हुआ-सा दीखने लगता है। आगे वृत्तियों का वर्णन करते हैं—

वृत्तियां

५. वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाश्च ।

अर्थ—वृत्तयः (वृत्तियां) पंचतय्यः (पांच प्रकार की) क्लिष्टाः (क्लेशयुक्त) अक्लिष्टाश्च (और क्लेशरहित) दोनों अवस्थाओं में रहती हैं।

क्लेशों का वर्णन दूसरे पाद में आयेगा। क्लेश-युक्त वृत्तियां बन्धन का कारण होती हैं, क्लेश-रहित बन्धन का कारण नहीं होतीं। इसका स्पष्टीकरण आगे होगा।

६. प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृतयः ।

अर्थ—पांच प्रकार से व्यक्त होने वाली चित्तवृत्तियों के भेद यह हैं—(१) प्रमाण, (२) विपर्यय, (३) विकल्प, (४) निद्रा और (५) स्मृति ।

७. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम,—तीन प्रकार के प्रमाण होते हैं। आत्मा चेतन होने से ज्ञानवान् है, परन्तु जब वह बुद्धि से संयुक्त होता है, तब कहता है कि मैं जानता हूं, इसलिए उसे ज्ञाता कहते हैं। पुस्तक, गाय इत्यादि जिन विषयों को वह जानता है, उनको ज्ञेय कहते हैं। जानना, जो बुद्धि की क्रिया है, ज्ञान कहलाता है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों को त्रिपुटी कहते हैं। जब किसी विशेष ज्ञेय की उपलब्धि नहीं होती, उसी समय निर्विषय ज्ञान होता है। ज्ञेय विषय के नाम, रूप, धर्म आदि से सीमित होने के कारण जो ज्ञान होता है, उसी की चित्त पर उठने वाली वृत्ति को प्रमाण कहते हैं। प्र=प्रकर्ष रूप से माप या मान में आये हुए ज्ञान की वृत्ति। ज्ञेय को प्रमेय और ज्ञाता को प्रमाता कहते हैं। नेत्रों से प्रत्यक्ष देखने पर, कानों से सुनने पर, हाथों से स्पर्श करने पर, जिह्वा से चखने पर या घ्राणेन्द्रिय के सूंघने पर जिस ज्ञान की वृत्ति चित्त पर उदय होती है, वही प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है। प्रत्यक्ष देखने, सुनने, स्पर्श करने, चखने या सूंघने के ज्ञान के आधार पर बुद्धि के सोचने से, जो प्रत्यक्ष नहीं है, ऐसे अप्रत्यक्ष ज्ञेय के ज्ञान की वृत्ति को अनुमान कहा जाता है, जैसे दूर पर्वत पर धुआं देखकर न दीखने वाली अग्नि का ज्ञान। अनुमान गलत भी हो सकता है, जैसे कुहरे को धुआं समझ कर अग्नि का अनुमान करना। स्वयं प्रत्यक्ष न किए हुए विषय को किसी प्रत्यक्ष देखने-सुनने वाले की ज़बानी जाने हुए ज्ञान

की वृत्ति आगम कहलाती है। यदि प्रत्यक्ष देखने वाले का ज्ञान ग़लत है, तो उससे आया हुआ आगम ज्ञान भी गलत माना जाता है। इसलिए एक प्रत्यक्ष ज्ञान ही मान्य समझा जाता है और उसे सब प्रत्यक्ष प्रमाणित कहते हैं।

अनुमान से सामान्य और प्रत्यक्ष से विशेष ज्ञान होता है, जैसे मार्ग में मिले पदचिह्नों से सामान्य और प्रत्यक्ष देखने पर मित्र या शत्रु होने का विशेष ज्ञान। अन्य शास्त्रकार तीन से अधिक प्रमाण मानते हैं, परन्तु योगी के लिए चित्त की सब वृत्तियों को इन तीन ही श्रेणियों में रखना पर्याप्त है, भले ही न्याय की दृष्टि से चाहे अन्य प्रमाण भी आवश्यक समझें जावें।

८. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठितम्।

अर्थ—विपर्ययः (विपर्यय वृत्ति) मिथ्या ज्ञान (मिथ्या ज्ञान वाली) होती है, क्योंकि अतद्रूप प्रतिष्ठितम् (ज्ञेय के रूप से भिन्न अतद्रूप की प्रतिष्ठा के आश्रय वाली होती है।)

जैसे रास्ते में रस्सी देखकर सांप का ज्ञान होना। यहां सांप का ज्ञान मिथ्या और रज्जू से भिन्न अतद्रूप ज्ञान है अथवा सीप को देखकर चांदी का ज्ञान होना। परन्तु दूसरे की गाय को देखकर अपनी गाय समझ लेना विपर्यय ज्ञान नहीं कहलायेगा, क्योंकि मिथ्या ज्ञान होते हुए भी तद्रूप अर्थात् गाय का ही ज्ञान है। गाय को भेंस समझ लेना विपर्यय की परिभाषा में आयेगा।

९. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।

अथ—शब्दज्ञानानुपाती (शब्दों के सुनने से होने वाला) वस्तु शून्यो (परन्तु ज्ञेय वस्तु से शून्य ज्ञान) विकल्पः (विकल्प) कहलाता है ।

जैसे आकाश-पुष्प, गधे के सींग इत्यादि ज्ञान केवल शाब्दिक ज्ञान हैं ।

१०. अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।

अर्थ—अभाव (ज्ञेय विषयों के अभाव वाले) प्रत्यय (ज्ञान का) आलम्बना (आलम्बन लिए हुए) वृत्तिः (वृत्ति) निद्रा कहलाती है ।

प्रत्यय शब्द निर्विषय ज्ञान का द्योतक है। आगे भी यह शब्द कई स्थानों पर आता है, जैसे भव प्रत्यय, विराम प्रत्यय आदि।

यहां पर अभाव प्रत्यय से यह समझना चाहिये कि सुषुप्ति अवस्था में चित्त में ज्ञान की वृत्ति तो रहती है, परन्तु कोई भी ज्ञेय सम्बन्धी ज्ञान, चाहे वह शाब्दिक विकल्प हो अथवा आर्थिक, नहीं रहता। तो भी ज्ञान के अभाव का ज्ञान रहता है। 'मैं सुख पूर्वक सोया' अथवा 'निद्रा अच्छी नहीं आई',—सोने के समय का यह ज्ञान और ज्ञान के अभाव का ज्ञान भी चित्त पर अपना संस्कार छोड़ जाता है, इसलिए निद्रा भी एक वृत्ति है। कोई शंका करे कि मूर्छा में भी अभाव प्रत्यय रहता है, तो उसका समाधान यह है कि मूर्छा को मृत्यु का पूर्व रूप माना

गया है, न कि चित्त की पृथक अवस्था। इस शास्त्र का विषय मृत्यु का विवेचन करना नहीं है। अवस्थाएँ तीन ही हैं,—जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति। चौथी तुर्यावस्था समाधि है जो चित्त-वृत्तियों की निरुद्धावस्था है। समाधिकाल में निद्रा का भी निरोध होना आवश्यक है।

११. अनुभूत विषयासंप्रमोषः स्मृतिः ।

अर्थ—अनुभूत (अनुभव में आए हुए) विषयाणाम् (विषयों का) असंप्रमोषः (भूल न जाना अर्थात् याद रहना) स्मृति (स्मृति की वृत्ति है।)

जो कुछ देखा, सुना या किया जाता है, उन सब अनुभूत विषयों के संस्कार चित्त पर अङ्कित होते रहते हैं और वे कभी नष्ट नहीं होते। उन के अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हो जाने पर वे तुरन्त स्मरण हो आते हैं अन्यथा दबे रहते हैं। इन संस्कारों को सदा स्मृति के परदे पर उठाये रखना स्मृति का कार्य है। स्मृति द्वारा जो विचार-धारायें और संकल्प-विकल्प मन में उठा करते हैं, तत्सम्बन्धी ज्ञान की वृत्तियां भी एक प्रकार की चित्त-वृत्ति हैं। यह पांचों प्रकार की वृत्तियां बुद्धि को चित्रित करती रहती हैं और द्रष्टा का किसी-न-किसी से तादात्म्य बना रहता है। अब नीचे इन सब का निरोध करने का उपाय कहते हैं—

१२. अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

अर्थ—अभ्यास वैराग्याभ्यां (अभ्यास और वैराग्य के द्वारा)

तन्निरोधः (उन पंचधा वृत्तियों का निरोध) होता है।

गीता में भी कहा है—'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते।'

१३. तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

अर्थ—तत्र (उसमें) स्थितौ (स्थित रहने का) यत्नः (यत्न करने को) अभ्यासः (अभ्यास) कहते हैं।

जैसा कि गीता में कहा है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्याधृति गृहीतया।
आत्म संस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत्॥

अभ्यास में विवेक सम्मिलित है, क्योंकि अनात्म विषयों से आत्मा को भिन्न जानकर ही उनसे चित्त को हटाया जा सकता है। तभी वैराग्य पर आरूढ़ होना सम्भव है। विवेक, वैराग्य का जोड़ा है और इनके पीछे शमादि षट्-सम्पत्ति की सिद्धि होती है। इसके लिए दृढ़ विश्वास की आवश्यकता है।

१४. स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्य सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।

अर्थ—स (वह अभ्यास) तु (परन्तु) दीर्घकालनैरन्तर्य्य (दीर्घ समय तक निरन्तर दिन-प्रति-दिन) सत्कारासेवितः (सत्कार के साथ सेवा किये जाने पर) दृढ़ भूमिः (दृढ़ भूमिका वाला) होता है।

यह आवश्यक है कि अभ्यास, जबतक योग सिद्ध न हो, जारी रखना चाहिए और निर्धारित समय पर प्रतिदिन श्रद्धा, उत्साह

तथा आदर-बुद्धि-युक्त होकर अभ्यास के लिए बैठना चाहिए। बेगार-सी टालने, समय पूरा करने, कभी करने तथा कभी न करने से अभ्यास में शिथिलता आ जाती है और कभी-न-कभी छोड़ भी दिया जा सकता है। योग सिद्ध होने पर ही ज्ञान की उपलब्धि होती है। अब वैराग्य का स्वरूप कहते हैं—

१५. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

अर्थ—दृष्ट (देखे) अनुश्रविक (सुने) विषय वितृष्णस्य (दोनों प्रकार के विषयों की तृष्णा न रहने वाले को) वशीकार संज्ञा (वशीकार नामक) वैराग्यम् (वैराग्य) होता है।

विषयों की तृष्णा का न रहना ही वैराग्य है, जिसमें इन्द्रियां और मन विषय-वासना से मुक्त हो जाते हैं। वशीकार वैराग्य की चौथी सीढ़ी है। इससे पूर्व तीन स्तर और हैं, जिनके नाम यह हैं—(१) यतमान, (२) व्यतिरेक और (३) एकेन्द्रिय। प्रथम स्तर पर इन्द्रियों से उपराम होने के यत्न का आरम्भ होता है। दूसरे स्तर पर कुछ सफलता प्राप्त होने पर साधक सोचता है कि इतनी उपरति आई,—इतनी कमजोरी बाकी है। तीसरे स्तर पर इन्द्रियां तो विषयों से हट जाती हैं, परन्तु मन का झुकाव उधर बना रहता है, जैसे पेट भरा रहने पर भी यह देखने को चित्त चाहता है कि क्या बना है? स्त्रियों में शुद्ध भावना रहते हुए भी उनके रूप-लावण्य की ओर दृष्टि चली ही जाती है। चौथे स्तर पर मन और इन्द्रियां दोनों वश में हो जाते हैं और मन तृष्णा-रहित भी हो जाता है, इसीलिए इसका नाम वशीकार वैराग्य है। यह ऊपर

कहा जा चुका है कि चित्त पर से विषयों की वृत्तियों का निरोध होने पर भी सत्व, रज, तम गुणों का उदयास्त बना रहता है। इसमें भी आसक्ति बनी रहती है। इससे भी वैराग्य होना आवश्यक है, क्योंकि जब तक गुणों से विरक्ति नहीं आती, विषयों का रस बना रहता है। गीता में कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

यही बात यहां कहते हैं—

१६. तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।

अर्थ—तत् (वह वैराग्य) परं (परम वैराग्य) कहलाता है, जबकि पुरुषख्यातेः (आत्मा के साक्षात्कार हो जाने से) गुणवैतृष्ण्यम् (सत्व, रज, तम तीनों गुणों की भी तृष्णा नहीं रहती।)

परम वैराग्य में साधक गुणातीत हो जाता है। उसके लक्षण गीता, अध्याय १४, श्लोक २२ से २५ तक में देखें। 'गुणागुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते'—गुण, गुणों में आते-जाते हैं, चित्त भी त्रिगुणात्मक है, उसमें कभी कोई, कभी कोई गुण उदय होता है, दूसरे दब जाते हैं,—ऐसा मान कर वह उनमें आसक्त नहीं होता और न उनसे विचलित होता है—'गुणैर्यो न विचाल्यते'।

यह कहा जा चुका है कि आंशिक निरोध भी योग कहा जाता है, इसलिए पहले अगले सूत्र में आंशिक निरोध की अवस्थाओं के नाम दिये जाते हैं। जब तक सब वृत्तियों का निरोध नहीं होता,

द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति नहीं होती और निरुद्ध प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि की सरूपता बनी रहती है, इसलिए उसे संप्रज्ञात निरोध कहते हैं। जब द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो जाती है तब पुरुष का बुद्धि-संयोग नहीं रहता, उसे असंप्रज्ञात निरोध कहते हैं।

१७. वितर्कविचारानन्दास्मिता रूपानुगमात् संप्रज्ञातः।

अर्थ—वितर्क, विचार, सानन्द और सास्मिता,—चारों के रूपों के अनुसार चार प्रकार का संप्रज्ञात निरोध कहलाता है।

प्रत्येक ध्यान में ध्येय विषय की प्रधानता रहती है और साथ ही ध्याता को अपने अहम् के साथ-साथ ध्येय विषय से उदय होने वाले आनंद की अनुभूति की भावना भी होती है, जैसे—'मैं हूँ, आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ और ध्येय का स्वरूप चित्त को आकर्षित कर रहा है' आदि। ध्येय विषय के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की सापेक्षता से आनन्द नैमित्तिक होता है और उनकी अपेक्षा छोड़कर अतीन्द्रिय भी होता है, जिसका सम्बन्ध इन्द्रियों के विषयों से नहीं होता। इसी प्रकार अहम् का ज्ञान भी आनन्द की अनुभूति लिए हुए भी रहता है और उसके बिना भी। प्रथम को सानन्द निरोध और दूसरे को सास्मिता निरोध कहते हैं। दोनों में बुद्धि की वृत्ति बनी रहती है, इसलिए दोनों संप्रज्ञात निरोध के अन्तर्गत हैं। वितर्क और विचार का स्पष्टीकरण आगे ४१, ४२, ४३ तथा ४४ सूत्रों की व्याख्या में देखें। जिस वृत्ति में आनन्द के स्थान पर दुःख, शोक अथवा चिन्ता की प्रधानता

होती है, वह ध्यान विक्षेप-युक्त और योग का विरोधी है। विक्षेप कितने प्रकार के होते हैं, यह सूत्र ३० में बताया गया है।

१८. विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।

अर्थ—विराम (सब प्रकार की विषय-वृत्तियों से उपरत होकर अर्थात् उनमें आने वाले रसास्वाद का त्याग करके और रस त्याग के फलस्वरूप चित्त को) निर्विषयी (संकल्प-विकल्पों से शून्य करने पर) प्रत्यय (जो ज्ञान रहता है, उसके) अभ्यासपूर्वः (अभ्यास पूर्वक) जो निरोध होता है वह, संस्कार शेषः (जिसमें संस्कार मात्र शेष बचे हैं, ऐसा निरोध है) अन्यः (दूसरा) असम्प्रज्ञात निरोध है।

जैसे कोई मनुष्य अपने प्रिय मित्र के ध्यान में मग्न है। यदि वह उस मनुष्य की आसक्ति छोड़ दे तो उस ध्यानावस्था में मित्र की भावना से उदय होने वाले आनन्द का रस छूट जायेगा और ध्येय मित्र का रूप भी वृत्ति में नहीं रहेगा। इसी प्रकार जब वृत्ति किसी ध्येय से युक्त नहीं रहती, तब विराम प्रत्यय जानना चाहिए।

१९. भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।

अर्थ—भवप्रत्ययः (प्राकृतिक, नैसर्गिक, स्वयमेव, बिना साधन के ऐसा निरोध) विदेह प्रकृतिलयानाम् (देह के अहं भाव को छोड़ कर प्रकृति में जिनकी बुद्धि का लय हो जाता है, उनको भी असंप्रज्ञात निरोध होता है, परन्तु वह ज्ञान का बाधक होने के कारण मुक्ति नहीं दे सकता)।

भव का अर्थ है प्रभव, सृष्टि उत्पन्न करने वाला। यह अवस्था शिशु और बाल्यावस्था में ही देखी जाती है। बुद्धि के संस्कार ज्ञान से ही दग्ध होते हैं। इससे पूर्व बुद्धि उन संस्कारों को लेकर जब प्रकृति में लीन होती है, तब भवाभिमुख होने के कारण वे संस्कार ही उसे संसार में फिर खींच लाते हैं और धीरे-धीरे विकसित होने लगते हैं। इसलिए मुमुक्षु को साधन द्वारा असंप्रज्ञात निरोध प्राप्तव्य है। भव प्रत्यय की अपेक्षा से उसे (१८वें सूत्र में जिस विराम प्रत्यय के अभ्यास का संकेत है) उपाय प्रत्यय भी कहते हैं, क्योंकि उसके लिए अगले सूत्र में कहे जाने वाले साधन-क्रम रूपी उपाय की आवश्यकता है।

२०. श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।

अर्थ—श्रद्धा (शास्त्र, गुरु और साधन में आस्था), वीर्य (साधन के लिए उत्तरोत्तर उत्साह की वृद्धि), स्मृति (बुद्धि की निर्मलता जो ध्येय को शीघ्र स्मृति में उपस्थित कर सके), समाधि (ध्येयाकार बुद्धि की एकाग्रता), प्रज्ञा (उससे उत्पन्न होने वाली ऋतंभरा प्रज्ञा) पूर्वक (इस प्रकार क्रमानुसार असंप्रज्ञात निरोध की प्राप्ति होती है) इतरेषाम् (उनको जो भव प्रत्यय नहीं हैं)।

उक्त साधन-क्रम इस शास्त्र का विषय है, जिसे आगे क्रम-पूर्वक बताया गया है। परन्तु उपाय करने वाला जितनी लगन से साधन करता है, उतनी ही शीघ्रता से उसका कार्य सिद्ध होता है,—यह नियम है। इसलिए कहते हैं—

२१. तीव्र संवेगानामासन्नः ।

अर्थ—तीव्रसंवेगानाम् (अभ्यास और वैराग्य के तीव्र वेग वाले साधकों को) आसन्नः (उपर्युक्त निरोध शीघ्र ही सिद्ध होता है।

मृदु संवेग, मध्य संवेग की अपेक्षा से तीव्र संवेग कहा गया है, उस पर भी—

२२. मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ।

अर्थ—मृदु, मध्य और अधिमात्र,—तीन स्तरों का तीव्र संवेग होने से उसमें विशेषता होती है अर्थात् मृदु तीव्र संवेग की अपेक्षा मध्यम तीव्र संवेग से और मध्यम तीव्र संवेग की अपेक्षा अधिमात्र तीव्र संवेग से और भी शीघ्र सिद्धि प्राप्त की जा सकती है अर्थात् मृदु संवेग और मध्य संवेग से असंप्रज्ञात सिद्धि की आशा करना वृथा है।

चित्त वृत्तियों के निरोध के लिए दीर्घ काल तक निरन्तर श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा पूर्वक तीव्र संवेग के वैराग्य सहित अभ्यास कहा गया। अब आगे अन्य उपाय कहते हैं। इनसे भी चित्त की वृत्तियों का निरोध शीघ्र होता है।

२३. ईश्वर प्रणिधानाद्वा ।

अर्थ—वा (अथवा) ईश्वर प्रणिधानात् (ईश्वर प्रणिधान से)।

प्रणिधान शब्द 'धा=धारण करना', इस धातु से पूर्व प्र और नि उपसर्ग लगाने से बनता है, जिसका अर्थ यह होता है कि ईश्वर को प्रकर्ष रूप से, निश्चय पूर्वक धारण करने से वृत्तियों का निरोध

बहुत शीघ्र हो जाता है। ईश्वर को ध्यान एवं नाम जप द्वारा तथा उसकी शरण में रह कर, सब कर्मों के फल का उसे समर्पण करके धारण किया जाता है। गीता में भी कहा है—

योगीनामपि सर्वेषाम् मद्‌गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां, स मे युक्ततमो मतः ।।

प्रणिधान (धारण करने) और आराधना करने में अन्तर यह है कि प्रणिधान में ईश्वर को अपने अन्तरात्मा से जगा कर हृदय में धारण करने का भाव निहित है। आराधना दूरस्थ ईश्वर की भी हो सकती है, जैसा कि श्रुति कहती है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया,
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

अन्तिम पंक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है कि समान रूप से सखावत् सदा से साथ में रहते हुए उस ईश्वर को जब ध्यान जपादि द्वारा प्रसन्न करके योगी प्रत्यक्ष देख लेता है और उसकी महिमा को, जो अनुग्रह रूपी है, अनुभव करता है तभी वह वीतशोक होता है, क्योंकि ईश्वर ही सद्‌गुरु है। दूरस्थ किसी लोक में निवास करने वाले ईश्वर की आराधना योगी को उसके ध्येय से हटा देती है, क्योंकि लक्ष्य तो आत्मस्थिति करना है, न

कि बुद्धि की वृत्तियों को बाहर दौड़ाना। उसका ईश्वर उसके अन्तरात्मा के पीछे विभु परमात्मा है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन् पुरुषः परः ॥ गीता

ईश्वर की ध्यान-भावना कैसी करनी चाहिए, यह अगले तीन सूत्रों में बताई जाती है—

२४. क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

अर्थ—क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश), कर्म (शुभाशुभ), विपाक (फल), आशयै: (संस्काराशयों से), अपरामृष्टः (परामर्ष में न आने वाला, अछूता, असंग) पुरुष विशेषः (ऐसा विशेष पुरुष अर्थात् परम पुरुष) ईश्वर: (ईश्वर है।)

पुरुष का अर्थ पुरी में सोने वाला है (पुरौ शेते इति पुरुषः) अर्थात् ईश्वर, जो अहम् के अभिमानी क्लेश, कर्म, विपाकाशयों से बंधे हुए द्रष्टा रूपी पुरुष से उक्त विशेषता लिए हुए है, उसके साथ ही इस देह में समान रूप से रहता है। यहां यह शंका नहीं करनी चाहिए कि अनेक देहाभिमानी पुरुषों के सदृश्य अनेक ईश्वर मानने पड़ेंगे और वह भी हाथ पैर वाले ईश्वर होने चाहियें। शंका का उत्तर गीता में इन शब्दों में दिया हुआ है—

अविभक्तं सर्व भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।

अर्थात् वह सब प्राणियों में अविभक्त होते हुए भी विभक्त

हुआ-सा रहता है और 'सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्' —सब इन्द्रियों के गुणों के आभास युक्त है, यद्यपि सब इन्द्रियों से रहित है। और—

२५. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्व बीजम् ।

अर्थ—तत्र (उस ईश्वर में) निरतिशय (अतिशय की धारणा से रहित) सर्वज्ञत्व बीजं (सर्वज्ञता का बीज है)।

अतिशय की भावना में न्यूनाधिक की सापेक्षता रहती है। जहां अतिशय कहने को स्थान ही न रहे अर्थात् जिससे अधिक नहीं हो सकती, ऐसी सर्वोपरि सर्वज्ञता बीज रूप से उसमें रहती है। जैसे बीज में मूल, पेड़, शाखाएं, पत्ते, पुष्प और फल सब एकत्रित हैं, उसी प्रकार भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में समस्त अनन्त सृष्टि का अनन्त ज्ञान ईश्वर में सर्वदा रहता है अथवा सृष्टि, स्थिति और संहार,—तीनों अवस्थाओं में तीनों कालों का ज्ञान युगपद् रहता है। और—

२६. स पूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

अर्थ—स (वह) पूर्वेषां (पूर्वजों का) अपि (भी) गुरुः (गुरु है) कालेन (काल से) अनवच्छेदात् (अवच्छेद न होने अर्थात् काटा न जाने के कारण।)

ऐसा कभी कोई समय नहीं हुआ जब ईश्वर नहीं था, इसलिए वह पूर्व गुरुओं का भी गुरु रहा है।

ईश्वर के प्रणिधान की विधि अगले दो सूत्रों में कहते हैं—

२७. तस्य वाचकः प्रणवः ।

अर्थ—तस्य (उस का) वाचकः (वाचक शब्द) प्रणवः (प्रणव है)। प्रणव ॐकार को कहते हैं, क्योंकि—

'प्राणान सर्वान्न परमात्मनि प्रणामयतीति एतस्मात् प्रणवः।' उसको प्रणव इसलिए कहा जाता है कि वह सब प्राणों को परमात्मा में प्रणाम कराता है अर्थात् परमात्मा में विलीन करा देता है अथवा परमात्मा की ओर, उसका वाचक होने के कारण, प्राणों को खींच लेता है। तदर्थ—

२८. तज्जपस्तदर्थ भावनम् ।

अर्थ—तत् (उसका) जपः (जप) तत् (उसके) भावनम् (अर्थ की भावना करनी चाहिए।)

भावना और जप दोनों साथ-साथ चलने चाहियें। जब शब्द का उच्चारण किया जाता है, तब उसके साथ ही उसके वाच्य अर्थ की भावना बुद्धि में तुरन्त उदय हो जाया करती है। जैसे— 'गाय' शब्द के उच्चारित हो जाने के साथ ही उसके वाच्यार्थ पशु गाय की भावना स्फुरित हो जाती है। गाय पशु वाच्य है, गाय शब्द उसका वाचक और शब्द के उच्चारण से चित्त से स्फुरने वाले ज्ञान की वृत्ति उसके अर्थ की भावना है। इसी प्रकार मन, बुद्धि, चित्त, आत्मा शब्दों के सुनने या पढ़ने से इन के अर्थ रूपी तत्वों के ज्ञान की भावना का हम सदा अनुभव करते हैं। यहां प्रणव (ॐ) शब्द वाचक है, ईश्वर (जैसा ऊपर तीन सूत्रों में वर्णित है) उसका वाच्य अर्थ है। यदि ॐ शब्द के

उच्चारण के साथ-साथ, जैसे हम मन या चित्त शब्द के उच्चारण के साथ अपने अन्तर में एक विशेष तत्व के ज्ञान की अनुभूति करते हैं, उसी प्रकार ईश्वर तत्व की अनुभूति अपने हृदय में करें। इस प्रकार भावना सहित जप करना चाहिए। उसका फल अगले सूत्र में बतलाते हैं—

२९. ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

अर्थ—ततः (उससे) प्रत्यक् (प्रत्यक्ष) चेतना (चेतना की) अधिगमः (अनुभव रूपी प्राप्ति होगी) च (और) अन्तरायाः (विघ्नों का) अभाव (अभाव) अपि (भी होगा)।

यहां प्रत्यक् चेतना की उपलब्धि कही गई है, ईश्वर की नहीं। ईश्वर मन और इन्द्रियों का विषय नहीं है और आत्मतत्त्व भी वैसा ही है। द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो जाने पर दीखना, देखने वाला और देखने की वस्तु,—तीनों का ज्ञान नहीं रहता, परन्तु हम अपने देह, मन एवं बुद्धि की क्रिया में आत्मा की चेतना का अनुभव सदा करते हैं। इसी तरह यद्यपि ईश्वर को देखा नहीं जा सकता, परन्तु उसकी चेतना का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। वास्तव में आत्मा की चेतना भी परमात्मा की चेतना का ही अंश है, जैसा कि भगवान ने गीता में कहा है कि "ममैवांशो जीवलोके जीव भूतः सनातनः" अर्थात् जीवलोक में मेरा ही अंश जीव बन गया है। परन्तु ईश्वर की प्रत्यक् चेतना का अनुभव इस सामान्य चेतना से विलक्षण है जो स्वानुभूति का ही विषय है और यहां उस की ही उपलब्धि

कही गई है। अन्तराय, जिनका संकेत इस सूत्र में है, उनके नाम और संख्या अगले सूत्र में दिए गए हैं।

यहां पर शंका होती है कि अन्तराय प्रत्यक् चेतनाधिगम के हैं या उस असंप्रज्ञात निरोध के जो ईश्वर प्रणिधान द्वारा प्राप्त करना है ?

प्रत्यक् चेतनाधिगम और अन्तरायाभाव दोनों को प्रणव के जप का फल कहा गया है। प्रत्यक् चेतनाधिगम में वृत्तियों का अभाव नहीं होता, क्योंकि द्रष्टा के स्वरूप में स्थित होने पर त्रिपुटी का अभाव हो जाता है और प्रत्यक् चेतनाधिगम प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है। इसलिए अन्तराय भी, जिनका न होना भी जप द्वारा कहा गया है, असंप्रज्ञात और सम्प्रज्ञात निरोध के ही मानने चाहियें। इसलिए यह संभव है कि प्रत्यक् चेतनाधिगम होने पर भी अन्तराय आयें। जब तक सब अन्तरायों का अभाव होकर असंप्रज्ञात निरोध सिद्ध न हो, तब तक जप करते रहना चाहिए और ३२वें सूत्र में कहे साधन का अभ्यास करना चाहिए।

३०. व्याधिस्त्यान संशय प्रमादाऽलस्याविरति भ्रांतिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

अर्थ—व्याधि (शारीरिक रोग), स्त्यान (चित्त की अकर्मण्यता), संशय (संशय), प्रमाद (बेपरवाही), आलस्य (शरीर की जड़ता), अविरति (विषयों की इच्छा), भ्रांति दर्शन, (कुछ का कुछ समझना या देखना), अलब्धभूमिकत्व

(साधन करते रहने पर भी उन्नति न होना, ऊँची भूमिका की अप्राप्ति), अनवस्थितत्व (ऊपर की भूमिका पाकर फिर उसमें स्थिर न रहने के कारण नीचे आ जाना), चित्त विक्षेपा: (चित्त में विक्षेप करने वाले) ते (वे) अन्तराया: (नवधा अन्तराय अर्थात् विघ्न हैं)।

३१. दुःखदौर्मनस्याऽङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः।

अर्थ—दुःख, दौर्मनस्य (मानसिक विकलता) अङ्गमेजयत्व (कम्प, जैसा क्रोध, भय, अशक्तता या ज्वर से होता है) श्वास-प्रश्वास (हापनी चढ़ना, ये दोष) विक्षेपसहभुवः (विक्षेपों के साथी हैं)।

३२. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।

अर्थ—तत् [उन विक्षेपों और उनके सहभुवों के] प्रतिषेधार्थं [प्रतिषेध के लिए] एकतत्त्वाभ्यास: (एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए)।

ऊपर कहे अनुसार अन्तराय रूपी चित्त-विक्षेपों का अनुभव प्रणव के जप और ईश्वर की भावना से होता है। फिर इस सूत्र की आवश्यकता क्यों पड़ी और एक तत्त्वाभ्यास से इसका क्या संबंध है ?,—यह बात यहां समझने की है। एक तत्त्व ईश्वर ही है, अन्य तत्त्व परिणामी होने के कारण एक अवस्था में नहीं रह सकते। उस एक तत्त्व ईश्वर की उपलब्धि भावना सहित उसके वाचक प्रणव के जप से होती है, जो प्रत्यक् चेतना के रूप में अनुभूति का विषय होता है। इसलिए उस प्रत्यक् चेतना की उपलब्धि के

पश्चात् उसका चिन्तन करते रहना ही 'एक तत्त्वाभ्यास' कहलाता है। प्रथम साधन में परोक्ष ईश्वर की साधना करने का उपदेश है, यहां उसकी प्रत्यक् चेतना रूपी अपरोक्ष अनुभूति पर चित्त को स्थिर करना है। यह साधन पहले की अपेक्षा ऊपर की भूमिका का है। दोनों साधन एक होते हुए भी उनमें भूमिका मात्र का अन्तर है। जप से विक्षेपों का अभाव होने के पश्चात् भी अनेक कारणों से उनके फिर प्रादुर्भाव की सम्भावना रहती है, क्योंकि साधक को ऊपर की भूमिकाओं के छिद्र अज्ञात रहते हैं। उनके कारण भ्रांति-दर्शन, प्रमाद आदि दोषों में फंस जाने से अनवस्थितत्त्व अन्तराय आ उपस्थित होता है और फिर अलब्ध भूमिकत्व की भी सम्भावना रहती है। इसलिए यह सूत्र चेतावनी देकर साधक को सावधान करता है कि प्रत्यक् चेतना रूपी एक तत्त्व के ध्यानाभ्यास में लगे रहना चाहिए, जिससे चित्त-विक्षेप के कारण कोई अन्तराय फिर लौट कर न आवे। प्रतिषेध का अर्थ रोकना है और अभाव का अर्थ न रहना है। साथ ही विक्षेपों के दुःख, दौर्मनस्य सहभुवों को कम करने, दबाने, उनसे बचने या उनकी अवहेलना करने के लिए सदा प्रसन्न चित्त रहना भी अत्यावश्यक है। इसलिए अगले सूत्र में चित्त को प्रसन्न रखने का उपाय भी कहते हैं। विक्षेपों से चित्त खिन्न होकर गिर जाता है और उत्साह हीन होकर अभ्यास के योग्य नहीं रहता। श्री भगवान् भी गीता में कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैवह्यात्मनोबन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

३३. मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणाम् सुखदुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम् ।

अर्थ– मैत्री (मित्रता की भावना), करुणा (दया), मुदिता (प्रसन्नता), उपेक्षाणां (परवाह न करना, उस ओर ध्यान न देना, इनकी क्रमशः) सुख, दुःख, पुण्य, अपुण्य (पाप के) विषयाणां (विषयों में—सप्तमी के अर्थ में षष्ठी) भावनातः (भावना करने से) चित्त प्रसादनम् (चित्त में प्रसन्नता) आती है ।

किसी को सुखी देखकर या उसके स्मरण से ईर्षा, द्वेष, स्पर्धा आदि दोष चित्त को व्यग्र कर सकते हैं । इसलिए उस समय मैत्री की भावना जाग्रत कर लेनी चाहिए । दुःखी को देखकर उस पर दया करनी चाहिए । यदि दूसरों के दुःख से प्रसन्नता हो तो ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होने में रुकावट आएगी, क्योंकि ईश्वर सब में साक्षी रूप से रहते हैं । पुण्यात्माओं के सम्पर्क में प्रसन्नता माननी चाहिए । यदि साधु-महात्माओं और पुण्यात्मा गृहस्थियों का अपमान करोगे या उनसे द्वेष रखोगे तो तुम उनकी तो हानि नहीं कर सकते, वरन् उनके पाप तुम्हें लगेंगे अथवा उनके शाप के तुम शिकार हो जाओगे और उनसे प्रसन्नता लाभ करने से तुम्हारे साधन को सहायता मिलेगी । पापियों से सदा दूर ही

रहना अच्छा है। उनको दण्ड देना तुम्हारा कार्य नहीं, राज्य का कार्य है। ऐसी या इसी प्रकार की भावनाएं जागृत करते रहने से चित्त में प्रसन्नता की वृद्धि होती है।

आगे चित्त-वृत्ति निरोध के अन्य उपाय भी कहे जाते हैं। यह सब एक दूसरे के सहयोगी और सहायक हैं। इनकी उपयोगिता अभ्यास, वैराग्य और ईश्वर प्रणिधान के साथ अथवा स्वतन्त्र रूप से चित्त-निरोध के लिए होती है।

३४. प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।

अर्थ—वा (अथवा) प्रच्छर्दन (बाहर फेंकने) विधारणाभ्यां (धारणा करने से) प्राणस्य (प्राण वायु के)।

यह प्राणायाम का साधन है जो यहां दो प्रकार का कहा गया है-(१) रेचक के पश्चात् बाह्य कुम्भक युक्त (२) पूरक के पश्चात् धारण करके आन्तर कुम्भक रूप। वायु को अन्दर लेना पूरक कहलाता है, बाहर निकालना रेचक कहलाता है और श्वास को रोक देना कुम्भक कहलाता है। बाहर रोकने से बाह्य कुम्भक और अन्दर रोकना आन्तर कुम्भक समझना चाहिए। प्राणायाम से भी चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। विशेष स्पष्टीकरण दूसरे पाद में सूत्र ५० के नीचे देखें।

प्राण और मन का विशेष सम्बन्ध है। एक के रुकने पर दूसरा स्वतः रुकने लगता है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि चेतना की अभिव्यक्ति दो स्तरों पर देखी जाती है—(१) प्रत्यक् चेतना के स्तर पर (२) सामान्य शरीर और मन की क्रियाओं में। पहली

का सीधा सम्बन्ध ईश्वर से है जो दोनों प्रकार की चेतनाओं का आधार है। दूसरी की अभिव्यक्ति द्रष्टा पुरुष के अन्तःकरण के द्वारा बाह्य करण और फिर शरीर से तादात्म्य कर लेने के कारण इनकी क्रियाओं में होती है। श्वास-प्रश्वास ऐसी क्रिया है जो सब का सञ्चालन रखती है और जीवन का आधार है। यदि इस क्रिया पर संयम कर लिया जावे तो शरीर, मन और इन्द्रियों की सब क्रियाएं वश में आ जायेंगी और उन का निरोध किया जा सकेगा। चित्त के निरुद्ध होने पर स्वरूप स्थिति स्वयं आ जाएगी,क्योंकि आत्मा की चेतन शक्ति पहिले बुद्धि पर,फिर चित्त पर, फिर मन और दसों इन्द्रियों पर और अन्त में शरीर पर उतर कर सबमें जीवन-संचार करती है। यदि दम घुट जाता है तो जीवन प्रदीप बुझ जाता है, परन्तु प्राणायाम के अभ्यास द्वारा उस पर शनैः-शनैः संयम प्राप्त करके उसका ऐसा निरोध किया जा सकता है कि शरीर ही नहीं, वरन् चित्त भी विकल न होकर अपनी क्रियाओं को निरुद्ध कर लेता है और द्रष्टा की स्वरूप स्थिति हो जाती है। पहले प्रत्यक् चेतना का साधन कहा गया, फिर सामान्य चेतना को नीचे के स्तरों से स्वयं निरुद्ध करने के साधनों में प्रथम श्वास-प्रश्वास रूपी प्राण की प्रमुख क्रिया के संयम का साधन कहा। अब इन्द्रियों से और फिर मन से संबन्धित साधनों को कहेंगे।

३५. विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसःस्थिति निबन्धिनी।

अर्थ—वा [अथवा] विषयवती [शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध विषयों

वाली] प्रवृत्तिः [प्रकर्ष रूप से अर्थात् दिव्य स्तर पर रहने वाली वृत्ति] उत्पन्ना [उत्पन्न होने पर चित्तवृत्ति का निरोध करती है, क्योंकि वह] मनसः [मन की] स्थितिनिबन्धिनी [स्थिति को बांधने वाली होती है]।

ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार सामान्यतः बाह्य जगत के पदार्थों से सम्बद्ध होता है, परन्तु जब वे उसका निमित्त छोड़कर अपने-अपने सूक्ष्म विषयों में प्रवृत्त होना सीख लेती हैं, तब उनमें दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श, दिव्य रूप, दिव्य रस और दिव्य-गंध के विषयों को ग्रहण और अनुभव करने की शक्ति जाग जाती है। तब वे बाह्य स्थूल जगत के विषयों से सम्पर्क कराने वाले स्थूल द्वारों की अपेक्षा छोड़ देती हैं अर्थात् उनमें उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करने की योग्यता आ जाती है और वे अन्तर्मुखी होने लगती हैं। इसका परिणाम मन पर होता है और वह स्थिर रहने लगता है।

३६. विशोका वा ज्योतिष्मती [प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबंधिनी]।

कोष्टक का पद पूर्व सूत्र से लेकर जोड़ने से इस सूत्र का पूर्ण वाक्य बनता है।

अर्थ—वा (अथवा) विशोका (विशोका नाम की) ज्योतिष्मती (ज्योतियों वाली) प्रवृत्ति से........इत्यादि।

ध्यान में जब सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत, अग्नि, खद्योत, स्फटिक आदि अनेक प्रकार की ज्योतियों के दर्शन होते हैं, उन्हें

विशोका संज्ञक ज्योतियां कहते हैं, क्योंकि उनके दर्शन विशोका भूमिका की सूचना देने वाले होते हैं, जिसका वर्णन तीसरे पाद में आयेगा। इनके दर्शन इन्द्रियों को और भी सूक्ष्म स्तर पर ले जाते हैं तथा अधिक अन्तर्मुखी कर देते हैं। इनके ऊपरी स्तर पर मन शान्त स्थिर हो जाता है, संकल्प-विकल्प करना छोड़ देता है, क्योंकि जगत के विषयों से उपरत हो जाता है।

३७. वीतराग विषयं वा चित्तम्।

अर्थ—वा [अथवा] वीतराग विषयं [जिन महापुरुषों का चित्त राग-द्वेष से मुक्त हो गया है, जैसे व्यासजी, शुकदेव प्रभृति या रामकृष्ण परम हंस जैसे अन्य महात्माओं के] चित्तम् (चित का ध्यान द्वारा आश्रय लेने से) साधक का चित्त भी वीतराग होकर एकाग्र हो जाता है।

३८. स्वप्न निद्राज्ञानालम्बनं वा।

अथवा स्वप्न और निद्रा के ज्ञान के आलम्बन द्वारा।

यदि कोई सुन्दर स्वप्न देखा हो तो उस स्वप्न का ध्यान करने से मन एकाग्र होता है। दूसरा सरल उपाय यह है कि जागते हुए ही निद्रा की-सी अवस्था में मन को ले जाने से चित्त की वृत्तियां शीघ्र शांत हो जाती हैं। सुषुप्ति में मन, बुद्धि अज्ञान में लीन हो जाते हैं। यदि जाग्रत में वैसी अवस्था कर ली जावे तो वह ज्ञान सहित अभाव प्रत्यय के आलम्बन वाली वृत्ति होगी। उस समय यह भावना करनी चाहिये कि मैं देह से पृथक् हो रहा हूँ।

३९. यथाभिमत ध्यानाद्वा ।

अर्थ—वा (अथवा) यथाभिमत (जैसा अभिमत हो अर्थात् मन को अच्छा लगे, वैसे) ध्यानात् (ध्यान से) चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। (परंतु ध्यान का विषय सात्विक भावनायुक्त होना श्रेयष्कर है।)

४०. परमाणु परम महत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ।

अर्थ—परमाणु [छोटे-से-छोटे अर्थात् परमाणु से लेकर] परम महत्त्वान्तो [बड़े-से-बड़े अर्थात् परम महान तक] अस्य [उस निरुद्ध चित्ता योगी की] वशीकार: [ध्यान द्वारा समझने की योग्यता] हो जाती है। वह जिस पदार्थ के गुण, धर्म जानना चाहता है, उसी का ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

अब आगे निरुद्ध चित्त के स्वरूप की मीमांसा करते हैं—

४१. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहण ग्राह्येषु तत्स्थ-तदञ्जनता समापत्तिः ।

अर्थ—क्षीणवृत्ते (क्षीण हो गई ह वृत्तियां, ऐसे चित्त की) अभिजातस्येव मणेः (अभिजात मणि अर्थात् स्फटिक मणि के सदृश) ग्रहीतृ (ग्रहीता अर्थात् वृत्तियों को ग्रहण करने वाले बुद्धि में स्थित द्रष्टा) ग्रहण (वृत्तियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, जो ग्रहीता ग्रहण करता है) ग्राह्य (जिन स्थूल-सूक्ष्म विषयों के ध्यान से वृत्तियां उत्पन्न होती हैं,

तीनों में से) तत्स्थ (जिस-जिस पर उस चित्त की स्थिति होती है) तदञ्जनता (उसी के सदृश रंगे जाने से) समापत्ति (उसके समान प्रपत्ति अर्थात् तद्रूपापत्ति, वैसा ही रूप बन जाना) होता है।

जैसे स्फटिक स्वयं स्वच्छ होता है। यदि रक्त धागे में पिरोया जावे तो उसके रंग में रंगा हुआ लाल-सा दीखने लगता है। यह निरुद्ध चित्त की स्फटिक मणि से उपमा दी गई है। उस चित्त का समीपस्थ सम्पर्क या ध्यान जिस-जिस तत्त्व का होता है, वह उससे तद्रूप हो जाता है। ध्यान में ध्याता, ध्यान, ध्येय की त्रिपुटी होती है। यहां उन्हें ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य कहा गया है। ग्रहण का अर्थ है पकड़ना। जैसे हाथ से कोई पदार्थ ग्रहण किया जाता है, वैसे ही ग्रहीता या द्रष्टा या ध्याता उस विषय-वृत्ति को ग्रहण करता है। ग्रहीता को छोड़कर सब विषय ग्राह्य हैं। ग्रहण का अर्थ है पकड़ अर्थात् ग्राह्य विषयों का ग्रहीता से संबंध। उनके सम्बन्ध को स्थापित करने में अस्मितायुक्त प्रवृत्ति मात्र कारण रहती है। प्रत्यक्ष किये जाने वाले विषय ही ग्राह्य हो सकते हैं। अन्य अनुमान, आगम, विपर्य्य, विकल्प, निद्रा, स्मृति के विषय ऐसे हैं जिनका कोई अस्तित्व नहीं होता। वे केवल बुद्धि की प्रवृत्ति अथवा चेष्टा मात्र हैं। बुद्धि ने सोचना या विचार करना छोड़ दिया तो निद्रा के सिवाय सबका अभाव हो जाता है, केवल संस्कार बने रहते हैं। निद्रा स्वयं अभाव प्रत्यय वाली है। इसलिये वे ग्राह्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि जिसका अस्तित्व

ही नहीं, वह ग्राह्य कैसे हो ? वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर इन सब का अभाव हो जायगा। इसलिये निरुद्ध क्षीणवृत्तिचित्त में प्रत्यक्ष प्रमेयों की ही वृत्ति 'ग्राह्य' कोटि में समझी जायेगी जो पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्राएँ, इन्द्रियां तथा मन, बुद्धि, महत्तत्त्व और अव्यक्त तक हो सकते हैं। ग्रहण कोटि में अन्य वृत्तियां हैं, यदि उनके प्रबल संस्कार उस समय उदय हो उठें और अहम् की वृत्ति ग्राह्य, ग्रहण दोनों से सम्बन्धित हो। ग्रहीता बुद्धि में स्थित होने से निरपेक्ष अहम् मात्र की वृत्ति ग्रहीता समापत्ति है। उसे सास्मिता समापत्ति और आनन्द की भावना से भावित होने पर सानन्द समापत्ति कहते हैं। ग्राह्य और ग्रहण कोटि की समापत्तियों के चतुर्विध 'चार स्तर' नीचे दिये जायेंगे। संक्षेप में बुद्धिसत्त्व स्थित आत्मा को ग्रहीता, अहंकार-युक्त चित्त को ग्रहण और अन्य सब तत्त्वों को ग्राह्य जानना चाहिये। चित्त स्वतः स्फटिक सदृश समापत्ति धारण करने वाला है।

४२. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।

अर्थ—तत्र (उनमें) शब्दार्थ ज्ञानविकल्पैः (शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों के विकल्पों सहित) संकीर्णा (मिली हुई) सवितर्का नाम की समापत्ति कहलाती है। जैसे गाय का रूप, गाय शब्द और उसका ज्ञान तीनों बने रहें।

४३. स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।

अर्थ—स्मृति परिशुद्धौ (स्मृति के अन्य सब विषयों से शुद्ध हो

जाने पर) स्वरूपशून्येव (अपने स्वरूप की शून्यता अर्थात् विस्मृति-सी हो जाय, अपने आप को भूल-सा जाय और अर्थमात्रनिर्भासा (अर्थमात्र का भास रहे) उसे निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं।

अपने स्वरूप को भूल जाने पर शब्द और ज्ञान भी नहीं रह सकता। यह दोनों सूत्र १७ में कथित वितर्क संज्ञक सम्प्रज्ञात समापत्ति के भेद हैं। प्रत्येक ध्यान में पहले तो ग्राह्य विषय के अर्थ, ज्ञान और शब्द,—तीनों की वृत्ति चित्त पर रहेगी, अन्य वृत्तियों का अभाव हो जायगा। परन्तु ध्यान के तीव्र होने पर ध्यान करने वाला अपनी अहम् वृत्ति को खो देगा और उसके साथ ही 'ध्यान कर रहा हूं' इसकी भी विस्मृति हो जायगी। केवल ध्येय विषय की वृत्ति चित्त पर बनी रहेगी। चित्त उससे तदाकार हो जायगा और उसके वाचक शब्द तथा उनका ज्ञान भी नहीं रहेगा। यह स्थूल पदार्थ विषयी संप्रज्ञात समापत्ति है।

४४. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।

अर्थ—एतयैव (इसी प्रकार ऊपर के सूत्रों में) सविचारा निर्विचारा च (सविचार और निर्विचार समापत्ति की भी) सूक्ष्म विषया (जो सूक्ष्म ग्राह्य विषया हैं) व्याख्याता (व्याख्या हो गई।)

४५. सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम्।

अर्थ—सूक्ष्म विषयत्वं च (और उनका सूक्ष्मपना) अलिंग पर्यवसानम् (अलिंग अर्थात् अव्यक्त प्रकृति तक है)।

सांख्य मत के अनुसार अव्यक्त अथवा प्रधान, जिसे मूल प्रकृति भी कहते हैं, महत्तत्व जिस में सत्व-रज-तम तीनों गुणों की समता भंग होकर विषमता आ जाने के कारण व्यक्तता आ जाती है और जो व्यक्त हो जाने के कारण लिंग स्वरूप कहलाता है, अहङ्कार.शब्द,स्पर्श,रूप,रस,गंध—५ तन्मात्राएँ, मन, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां और ५ महाभूत—आकाश-वायु-तेज आपः और पृथिवी,—ये चौबीस तत्त्व माने जाते हैं। ५ महाभूत और उनके कार्य भौतिक जगत के सब पदार्थ स्थूल कहलाते हैं। शेष १६ तत्व सूक्ष्म कहलाते हैं। पुरुष इनसे भिन्न है। स्थूल ग्राह्य विषयी वितर्क और सूक्ष्म ग्राह्य विषयी विचार समापत्तियां कहलाती हैं। ग्रहण समापत्ति और ग्रहीता समापत्ति भी सूक्ष्म विषया हैं।

४६. ता एव सबीज समाधिः।

अर्थ—ता (ये) एव (ही) सबीज (बीज सहित) समाधि हैं।

संप्रज्ञात समापत्तियां अर्थात् उपर्युक्त चारों सबीज समाधि के अंग हैं क्योंकि दृश्य जगत के विषयों के ध्यान से युक्त होने के कारण उनमें जन्म-मरण का बीज नष्ट नहीं होता। फिर इनसे लाभ क्या ? यह अगले सूत्र में कहते हैं कि उपरोक्त क्रम से अभ्यास करते-करते—

४७. निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्म प्रसादः।

अर्थ—निर्विचार वैशारद्ये (निर्विचार समापत्तिके वैशारद्य होने पर) अध्यात्म प्रसादः (आत्मा सम्बन्धी प्रसन्नता) जाग जाती है।

अर्थात् आत्मानुसुख की अनुभूति होने लगती है, क्योंकि आत्मा का प्रकाश बुद्धि पर चमकने लगता है।

४८. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।

अर्थ—ऋतम्भरा (ऋत आत्मानुभूति रूपी सत्य से पुष्ट) तत्र (उस समय) प्रज्ञा (बुद्धि) हो जाती है।

अध्यात्म प्रसाद का लक्षण ऋतम्भरा प्रज्ञा है। यह शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान होती है। इसे ऋतम्भरा क्यों कहा गया ? यह अगले सूत्र में बताते हैं--

४९. श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्य विषया विशेषार्थत्वात् ।

अर्थ—श्रुत (सुने हुए) अनुमान (और अनुमान के ज्ञान युक्त) प्रज्ञाभ्यां (बुद्धियों से) अन्य विषया (भिन्न ज्ञान विषयी वह बुद्धि है) विशेषार्थत्वात् (उसका ज्ञान विशेष अर्थ युक्त होने के कारण)।

सुनकर और अनुमान द्वारा किसी विषय का सामान्य ज्ञान होता है, परन्तु प्रत्यक्ष देखने से वह ज्ञान विशिष्ट होता है। यह बात सूक्ष्म विषयों के लिये भी लागू है। सामान्य प्रज्ञा सूक्ष्म विषयों को प्रत्यक्ष नहीं कर सकती और ऋतम्भरा प्रज्ञा अव्यक्त तक सभी सूक्ष्म विषयों को प्रत्यक्ष कर लेती है। इसलिए उसका ज्ञान सामान्य ज्ञान से भिन्न और उन विषयों का भी होता है जो सामान्य बुद्धि की गति के बाहर हैं तथा विशेष अर्थ वाला, सत्य, भ्रान्ति रहित होता है। और—

५०. तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी ।

अर्थ—तज्जः (उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न) संस्कारः (संस्कार) अन्य संस्कार प्रतिबंधी (अन्य मिथ्या संस्कारों का, जो सुनने या अनुमान से उत्पन्न थे, काटने वाला होता है।)

जैसे सत्य ज्ञान से असत्य भ्रान्ति पूर्णज्ञान दूर हो जाता है, परन्तु—

५१. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज समाधिः ।

अर्थ—तस्यापि (उस के भी) निरोधे (निरोध होने पर) सर्व निरोधात् (पूर्ण निरोध होने के कारण) निर्बीजः समाधिः (निर्बीज समाधि होती है।) यह स्वरूप स्थिति की अवस्था है ।

२०वें सूत्र में कहे गए 'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्' के साधन का यहां उपसंहार होता है ।

४३वें सूत्र के अनुरूप श्रद्धा-वीर्ययुक्त दीर्घकालनरन्तर्य्य सत्कारासेवित साधन क्रम द्वारा स्मृति परिशुद्ध होने से, निर्विचार समापत्ति के विशारद होने पर, ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय होने के फलस्वरूप असत्य ज्ञान के संस्कार दब जाने के पश्चात्, ऋतंभरा प्रज्ञा के भी निरोध होने पर निर्बीज समाधि की सिद्धि होती है ।

२. साधन पाद

●

प्रथम पाद में समाधि का रूप दिखाकर दूसरे पाद में साधन का रूप कहते हैं। यहां यह शंका होती है कि प्रथम पाद में ही अभ्यास, वैराग्य, ईश्वर-प्रणिधान से आरम्भ करके यथाभिमत ध्यान तक साधन कह दिए गए,—फिर अन्य साधनों की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान यह है कि वृत्तियां क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार की होती हैं जिनमें क्लिष्ट ही बन्धन का कारण हैं और जब तक क्लेश क्षीण नहीं किये जाते, कोई साधन सफल नहीं हो सकता। इसलिए जो साधन वहां कहे गए हैं, उनकी उपयोगिता और उनका प्रयोग क्लेशों को क्षीण करने के लिए किस प्रकार होता है, यह जानकर ही साधन करना वास्तविक साधन है। वहां तो उनका उल्लेखमात्र है और उनसे सिद्ध होने वाले निरोध की व्याख्या की गई है। इस अभिप्राय को लेकर ईश्वर-प्रणिधान को सर्वप्रथम लेते हैं। अभ्यास-वैराग्य उसके अन्तर्गत हैं, क्योंकि ईश्वर प्रणिधान के लिए अभ्यास, वैराग्य दोनों अनिवार्य रूप से उसके साथ रहते हैं। बिना विषयों से वैराग्य हुए ईश्वर-प्रणिधान असम्भव है। ईश्वर-प्रणिधान कैसे सिद्ध होता है ? यह बताने के लिये प्रथम सूत्र का आरम्भ किया जाता है—

१. तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः ।

अर्थ—तपः (तप) स्वाध्याय (जप और सद्ग्रन्थों का पठन-पाठन) और ईश्वर प्रणिधान (तीनों मिलकर) क्रियायोगः (क्रिया में लाया जाने वाला योग का साधन है।)

ईश्वर प्रणिधान केवल एक मानसिक भावना का रूप है, उसे जीवनचर्या में क्रियात्मक रूप देना चाहिये। यह कैसे किया जावे ? यह इस सूत्र में बताया गया है। कहा है कि 'देवो भूत्वा देवम् यजेत्' देवता बन कर देवता का यजन किया जाना चाहिए। उसके लिए साधक को कायया, मनसा, वाचा अपनी शुद्धि करना सर्वोपरि प्राथमिक आवश्यकता है। तप से काया एवं इन्द्रियों की और स्वाध्याय से मन तथा वाणी की शुद्धि होती है। इन्द्रियों और मन के संयम सहित युक्त आहार-विहार तप कहलाता है। सारा अष्टांग योग का साधन, व्रत-उपवास, ब्रह्मचर्य आदि तप हैं। इन्द्रियों और मन के निग्रह को विशेष रूप से तप कहा गया है। चान्द्रायणादि व्रत भी तप कहे जाते हैं। पृथिवी पर शयन करना, शृङ्गार का सर्वथा त्याग (सादगी का जीवन), माता-पिता, महान् पुरुषों और गुरुजनों की सेवा-सुश्रुषा तथा मान करना, दिन में न सोना, दुःखों को प्रसन्नता सहित सहन करना अर्थात् तितिक्षा, सदा प्रसन्न चित्त रहना एवं सत्कर्मों में आलस्य न करना,—यह सब तप के अङ्ग हैं।

तप से स्वास्थ्य, कार्यक्षमता और अनेक लौकिक एवं व्यावहारिक सिद्धियां प्राप्त होती हैं। शास्त्रों के पठन-पाठन से

शास्त्रीय ज्ञान, पाण्डित्य एवं कार्यपटुता आती है। मन्त्रों के जप से भी अनेक सिद्धियों की प्राप्ति देखी जाती है। ईश्वर की भक्ति भी सन्तान, धन, वैभवादि की प्राप्ति और लौकिक भोग-वासनाओं की पूर्ति के निमित्त की जाती देखी जाती है,--जैसे मुकद्दमों में सफल होने के लिए, स्त्री की कामना से, नौकरी मिलने तथा परीक्षा में उत्तीर्ण होने जैसे अनेक ऐहिक कार्यों की सफलता के लिए अनुष्ठान किए जाते हैं। परन्तु यहां पर जिस भावना से युक्त होकर उक्त क्रियायोग का अनुष्ठान कहा गया है, वह अगले सूत्र में कहते हैं।

२. समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।

अर्थ—समाधि भावनार्थः (क्रिया योग समाधि की सिद्धि के लिए) च (और) क्लेश (नीचे कहे जाने वाले पंचक्लेशों को) तनु (कमजोर, शिथिल) करणार्थः (करने के लिए) कहा गया है। क्लेश क्या हैं—

३. अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः ।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश,--यह पांच क्लेश हैं।

४. अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।

अर्थ--अविद्या (पहला क्लेश) क्षेत्रं (खेत है) उत्तरेषां (अन्य चारों का) जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार,--इन चार अवस्थाओं में रहते हैं।

अविद्या की भूमि पर अन्य चारों—अस्मिता, राग, द्वेष और

अभिनिवेश की फसल कभी बीज रूप में, कभी कमज़ोर, कभी विच्छिन्न (कटी) हुई और कभी उदार अर्थात् प्रबल रूप में होती रहती है। जैसे शत्रु को देखकर द्वेष की भावना उदार होने के समय यदि कोई मित्र आ जाए, तो उस मित्र के राग (प्रेम या मोह) का भाव उस द्वेष को दबा कर शान्त कर देता है, तब वही विच्छिन्न कहलाती है। परंतु क्रिया योग के साधन से ध्यान द्वारा उनके संवेग को कमज़ोर किया जा सकता है। तब वह तनु कहलाती हैं। तनु का अर्थ पतला है। तनु होकर कालान्तर में वे क्षीण हो जाते हैं।

दूसरा दृष्टान्त—एक माँ अपने बालक को प्रेम से रोटी खिला रही है, उस समय उसमें राग की वृत्ति उदार है। इतने में उसकी सपत्नि का बालक आकर रोटी छीनने लगता है, तब उसका अपने पुत्र का राग विच्छिन्न हो जाता है और सपत्नि का द्वेष उदार हो उठता है। उसी समय एक भयंकर बन्दर आ उपस्थित होता है, जिसे देख कर दोनों राग-द्वेष विच्छिन्न हो जाते हैं और भय (अभिनिवेश) की वृत्ति उदार हो उठती है। वह अपने और सपत्नि के दोनों बालकों को एक समान गोद में छुपाकर बन्दर को भगाने को उद्यत हो जाती है। जब वह किसी अन्य कार्य में व्यस्त होती है, तब तीनों क्लेश बीज रूप में उसमें विद्यमान रहते हैं। अगले पांच सूत्रों में पांचों क्लेशों का स्वरूप दिया गया है।

५. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

अर्थ—अनित्य, अशुचि, दुःख, अनात्मसु (अनित्य, अपवित्र,

दुःखरूप जो आत्मा से भिन्न प्रकृति के तत्त्वों के संघात देहादि हैं, उनमें क्रमशः) नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः (नित्यता, पवित्रता, सुखरूप होने और आत्मभाव का ज्ञान) अविद्या है।

अविद्या या अज्ञान का अर्थ विद्या अथवा ज्ञान का अभाव नहीं समझना चाहिए, वरन् विपरीत ज्ञान समझना चाहिए। जो पदार्थ या वस्तु जैसी है, उसका वास्तविक स्वरूप जानना ज्ञान कहलाता और यथावत् न जानना अविद्या या अज्ञान कहलाता है। देह को आत्मा और आत्मा को देह मानने का मिथ्या ज्ञान अविद्या कहलाती है। देह के नश्वर, अपवित्र, दुःख और अनात्म धर्म आत्मा में और आत्मा के नित्य, पवित्र, आनन्द रूप और चेतन धर्म देह में आरोपित करना भी अविद्या है। हम देह के मरने को आत्मा का मरना, देह की पीड़ा से अपने को दुःखी, देह की अपवित्रता से अपने को अपवित्र मानते हैं,—यही अविद्या है, क्योंकि आत्मा अजर, अमर, सदा पवित्र, आनन्द स्वरूप, चेतन है। देह नश्वर, अपवित्र, दुःखों का घर और जड़ है। अविद्या के कारण अन्य चारों क्लेशों की उत्पत्ति होती है।

६. दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।

अर्थ—दृक् दर्शन शक्त्योः (देखने वाली शक्ति आत्मा या पुरुष की और देखने की शक्ति बुद्धि, दोनों की) एकात्मता (एकरूपता, तादात्म्य भाव) एव (ही) अस्मिता ('मैं हूँ'—इस

भाव का कारण है)। अर्थात् दोनों के तादात्म्य होने पर 'मैं हूँ' यह ज्ञान प्रस्फुटित होता है।

७. सुखानुशयी रागः।

अर्थ—सुख के पीछे जो उसके प्रति आसक्ति का संस्कार बना रहता है, उसे राग कहते हैं।

८. दुःखानुशयी द्वेषः।

अर्थ—दुःख के पीछे जो उसके प्रति द्वेष बना रहता है, वह द्वेष कहलाता है।

९. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।

अर्थ—स्वरसवाही (स्वभाव से प्रवाहित) विदुषोऽपि (विद्वानों को भी) तथा (वैसा ही, जैसा सबको होता है) आरूढः (चढ़ा हुआ जीवन का प्रेम), अभिनिवेशः (अभिनिवेश कहलाता है।)

जीने की इच्छा का विरोधी भाव भय है, इसलिए भय को भी अभिनिवेश का रूप माना जाता है। अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश अपने शुद्ध स्वरूप में सूक्ष्म होते हैं, परन्तु जब स्थूल रूप धारण करते हैं तब उनकी वृत्तियां अनेक रूप धारण कर लेती हैं, जैसे अहंकार, अभिमान, घमण्ड, लज्जा, अस्मिता (मैं पन) की वृत्तियां हैं। काम, लोभ, मोह, प्रेम, स्पृहा, आसक्ति, इच्छा, राग की स्थूल वृत्तियां हैं। क्रोध, ईर्षा, घृणा द्वेष की और भय अभिनिवेश (जीवन-लालसा) की स्थूल वृत्तियां हैं। अगले दो सूत्रों में उनको क्षीण करने के उपाय कहे जाते हैं।

१०. ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ।

अर्थ—ते (तनु किये हुए क्लेश) प्रतिप्रसव (कार्य के कारण में विलीनीकरण द्वारा) हेयाः (त्यागे जाने योग्य होते हैं) सूक्ष्माः (जो सूक्ष्म रूप में हैं)। 'सूक्ष्माः' 'ते क्लेशाः' का विशेषण है।

प्रतिप्रसव का अर्थ—कारण से कार्य की उत्पत्ति के क्रम को प्रसव कहते हैं। उसका उलट क्रम अर्थात् कार्य का कारण में विलीनीकरण प्रतिप्रसव कहलाता है। इस प्रकार सूत्र का अभिप्राय यह है कि क्रिया योग द्वारा तनु किये हुए पांचों क्लेशों के सूक्ष्म रूपों को प्रतिप्रसव क्रम से त्यागा जाना चाहिये। जैसे द्वेष का कारण दुःख है, सुख के अभाव एवं प्रतिद्वन्द्वी को दुःख कहते हैं। राग का कारण सुख है। सुख-दुःख का द्वन्द्व पारस्परिक है। सुख की इच्छा स्वयं दुःख रूप है, इसलिए सुख की इच्छा का त्याग दुःख सहन करने के लिए तितिक्षा को उन्नत करेगा। इच्छा का कारण अस्मिता है,—चाहे वह सुख-प्राप्ति के लिये हो, चाहे सुखों के भोगने के यन्त्र अथवा साधनरूप देह की रक्षा के लिए हो, जिसे यहां अभिनिवेश संज्ञा दी गई है। इसलिए राग, द्वेष और अभिनिवेश तीनों का कारण अस्मिता है। अस्मिता का कारण दृक् शक्ति का दर्शन शक्ति से तादात्म्य होना है, जो वास्तव में कभी नहीं होता, केवल होता हुआ-सा प्रतीत होता है। जैसा कि तुलसीदास जी ने राम-चरित मानस में कहा है कि—

'जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई, जदपि मृषा छूटत कठिनई।'

उक्त तादात्म्य का कारण अविद्या है, जो ज्ञान द्वारा दूर होती है। ज्ञान को यहां विवेक-ख्याति या पुरुष-ख्याति कहा गया है, जिसकी प्राप्ति के विषय में अष्टांग योग सूत्र २८ में कहेंगे। इस दृष्टि से सूक्ष्म क्लेशों का काटना योग का साङ्गोपाङ्ग साधन होने के कारण शीघ्र सम्भव नहीं। इसलिए पहले उन क्लेशों की वृत्तियों का त्याग करना चाहिये—

११ ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।

अर्थ—ध्यानहेयाः (ध्यान द्वारा हेय अर्थात् त्याज्य) तत् (उनकी) वृत्तयः (वृत्तियां) हैं।

ध्यान की अवस्था में मनुष्य का चित्त ध्येय के विषय से तदाकार हो जाता है और अपने अहम् को भुला देता है। तब चित्त का लक्ष्य एक विषयी होकर क्लेशों से उदय होने वाली स्थूल वृत्तियों से हट जाता है। इसलिए जब-जब काम, क्रोधादि की वृत्तियां उदारता धारण करें, तब-तब उनको रोकने, दबाने, मन को समझाने अथवा उनसे युद्ध करने से काम नहीं बनता। उस समय उनसे बचने का एकमात्र साधन है—ईश्वर का चिंतन करने लगना।

ऊपर अविद्या को क्षेत्र से उपमा दी गई, जिसमें अन्य चारों क्लेशों की फसल उत्पन्न होती है। अब आगे के चार सूत्रों में उस फसल में जो पैदावार होती है, उसका निरूपण करते हैं—

१२. क्लेशमूलः कर्माशयोदृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।

अर्थ—क्लेशमूलः (क्लेश हैं मूल जिसकी अर्थात् क्लेश रूपी बीज और जड़ से) कर्माशयः (कर्मों का आशय उत्पन्न होता है, जो) दृष्ट (इस दीखने वाले) अदृष्ट जन्म (अभी न दीखने वाले, परन्तु अगले जन्मों में) वेदनीयः (अनुभव गम्य होता है अर्थात् भोगना पड़ता है), क्योंकि—

१३. सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।

अर्थ—सति (जब तक हैं) मूले (जड़ अर्थात् मूल के रहते) तद् (उनका) विपाकः (परिपाक अवश्यंभावी है), वे त्रिविध जाति, आयु और भोग हैं।

यहां जाति का अर्थ जन्म लेना चाहिए न कि ब्राह्मण, क्षत्रियादि। जाति से मानव जाति, पशु जाति इत्यादि का भी अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। और—

१४. तेह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।

अर्थ—ते (विपाक रूपी जाति, आयु और भोग की फसल) ह्लाद-परितापफलाः (आह्लाद और संताप रूपी फलों को देती है, कर्माशय के) पुण्यापुण्य हेतुत्वात् (पुण्य और अपुण्य अर्थात् पापमय होने के कारण)। पुण्य के हेतु से प्रसन्नता और पाप के हेतु से सन्ताप देने वाला होता है। परन्तु—

१५. परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

अर्थ—परिणाम (सुख का अन्त दुःख में होता है) ताप (सन्ताप

स्वयं दुःख-रूप है ही) संस्कार (दोनों का संस्कार जो चित्त पर रह जाता है, उसकी स्मृति से भी अनुताप होता है और वह संस्कार बार-बार उसी मार्ग पर चलने को बाध्य करता रहता है, जिनकी परवशता भी दुःख का कारण बन जाती है, इसलिये इनके) दुःखैः (दुःखों के द्वारा या सहित होने वाली) गुणवृत्ति (सत्व, रज, तम की वृत्तियों के) विरोधात् (परस्पर विरोधी होने के कारण) च (भी) दुःखमेव (दुःख रूप ही है) सर्वं (सब) विवेकिनः (समझदार विवेकी मनुष्यों के लिए)।

१२ से १५ सूत्रों पर विशेष वक्तव्य—

इस भू-मंडल में चौरासी लक्ष योनियों के यावत् प्राणी देखने में आते हैं। उन सबको देखा जाता है कि वे सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। परंतु एकमात्र मनुष्य ऐसा है जो बुद्धि-विवेक द्वारा अनेक प्रकार के कार्य करता है। दूसरों की चेष्टायें नैसर्गिक स्वभावतः होती दीख पड़ती हैं, जैसे बालकों और पागलों की चेष्टायें विवेक-शून्य होती हैं। वह अपनी चेष्टाओं के परिणाम को न समझते हैं न सोचते हैं, परंतु सुख-दुःख का अनुभव अवश्य करते हैं। इसीलिये मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य सब भोग योनियां और मनुष्य योनि को दोनों,—कर्म और भोग योनि माना जाता है। भोगों का कारण क्या है? इसका उत्तर न्याय-शास्त्रकार कहते हैं कि बिना कारण के कार्य नहीं होता। इस सिद्धांत के अनुसार सुख-दुःखात्मक भोगों का कारण पूर्वजन्म-कृत शुभाशुभ कर्म हैं, जिनका फल

भोगने के लिए जन्म हुआ है। उनके भोगने में जितना समय लगता है, वह उसकी आयु कहलाती है। मनुष्य सुख की इच्छा से और दुःखों से बचने के लिये जो अन्य कर्म करता है, उनका जन्म, आयु और भोग रूपी फल भोगने के लिये वे कर्म अगले जन्मों का कारण बनते हैं। जो कर्म वह करता है, वे उसके पूर्व-कृत कर्मों और भोगों के संस्कारों से प्रेरित होते हैं, क्योंकि संस्कारों से पुष्ट होकर ही ५ क्लेशों द्वारा कर्म करने की प्रेरणा होती है। इसलिये क्लेश, कर्म, विपाक, आशय का चक्र अनादिकाल से कैवल्य-पद की प्राप्ति तक चलता ही रहता है। ईश्वर इस चक्र से नित्य मुक्त है।

विवेकी मनुष्य सुखों को भी दुःख रूप समझता है, जसे स्वाद के लिये आहार के प्रमाद से रोगों के आक्रमणरूपी परिणाम दुःख रूप होते हैं और सुखों के पश्चात् दुःख के समय उन सुखमय दिनों की स्मृति भी ताप का कारण बन जाती है। जो दुःख भोगे जा चुके और जो वर्तमान में भोगे जा रहे हैं, उनसे बचने का उपाय सोचना वृथा है। इसलिये—

१६. हेयं दुःखमनागतम्।

अर्थ—हेयं (त्यागे जाने योग्य है) दुखं (दुःख) अनागतम् (जो नहीं आया है)।

जैसे आयुर्वेद शास्त्र में चिकित्सा के चार अङ्ग कहे गये हैं—(१) रोग, (२) रोग का कारण, (३) स्वास्थ्य और (४) स्वास्थ्य का उपाय। इसी प्रकार यहां भव रोग की चिकित्सा के चार अङ्ग

आगे कहते हैं,-- (१) हेय, (२) हेय-हेतु, (३) हान और (४) हानोपाय। इस सूत्र में कहा गया कि भविष्य के दुःखों से बचने का उपाय करना कर्तव्य है। अगले सूत्र में बताते हैं कि हेय का हेतु क्या है ?

१७. द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

अर्थ—द्रष्टृ (द्रष्टा) दृश्ययोः (और दृश्य दोनों का) संयोगः (संयुक्त होना, मिलना) हेय हेतुः (हेय का कारण है)।

द्रष्टा रूप से पुरुष या आत्मा, बुद्धि से तादात्म्य मान कर ज्ञानेन्द्रियों के द्वारों से दृश्य से संयोग करता है, तब उसे दृश्य का ज्ञान होता है। यह ज्ञान कभी सुख देने वाला, कभी दुःखदायक और कभी भय उत्पन्न करने वाला होता है। यदि द्रष्टा और दृश्य के संयोग का विच्छेद हो जाय तो दृश्य की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का ज्ञान उससे हट जाता है। इसलिये सब सुखों का कारण द्रष्टा-दृश्य का संयोग ही है। अब, दृश्य किसे कहते हैं ? यह अगले सूत्र में बताते हैं—

१८. प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

अर्थ—प्रकाश (सत्व गुण) क्रिया (रजोगुण) स्थिति (तमोगुण) शीलं (धर्म वाला) भूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) इन्द्रियात्मकं (और पांच तन्मात्रा सहित इन्द्रियां हैं अङ्ग जिसके) भोगापवर्गार्थं (भोग और मोक्ष देना जिसका कार्य है) ऐसा दृश्य है।

यह प्रकृति तीन गुण वाली है। सत्त्व से ज्ञान का प्रकाश, रजोगुण से क्रिया और तमोगुण से स्थिति के धर्म प्रकृति की सब विकृतियों में देखे जाते हैं। महतत्त्व, अहंकार और ५ तन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध), ७ प्रकृति-विकृति कहलाती हैं, क्योंकि यह मूल प्रकृति की विकृति हैं और अन्य सोलह तत्त्वों की प्रकृति हैं, जिनके नाम यह हैं—मन, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां और ५ महाभूत। बुद्धि महत्तत्त्व का अङ्ग है और चित्त मन के अन्तर्गत है, इसलिए दोनों की गणना स्वतंत्र नहीं की गई। बुद्धि से युक्त होने पर द्रष्टा कहलाता है और वह अहंकार-युक्त होता है। इनके अतिरिक्त सब तत्त्व दृश्य के अङ्ग हैं, क्योंकि द्रष्टा इनको देखने वाला है और यह सब देखने के विषय हैं। दोनों के संयोग से भोग और वियोग से मोक्ष होता है। आत्मा स्वभाव से असंग है, इसलिए उसमें न भोग है और न मोक्ष। अतः दृश्य को ही दोनों का कारण मानना पड़ता है।

१९. विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।

अर्थ—विशेष (१६ विकृतियां) अविशेष (अहंकार और पांच तन्मात्रायें अर्थात् प्रकृति-विकृति) लिङ्गमात्र (महत्तत्त्व) अलिङ्ग (अव्यक्त प्रकृति, यह चार) गुणपर्वाणि (गुणों के चार पर्व अर्थात् परिणाम रूपी विभाग हैं।

तीनों गुणों की साम्यावस्था में प्रकृति अव्यक्त दशा में रहती है, इसलिए उसे अलिङ्ग अर्थात् चिन्ह-रहित कहा गया है। तीनों की विषमावस्था में वही व्यक्त होकर महत्तत्त्व कहलाती है।

उसे लिङ्ग मात्र कहा गया, क्योंकि उसमें सारा दृश्य बीज रूप में रहता है। महत् से अहंकार, सात्विक अहंकार से मन, राजसिक से कर्मेन्द्रियां, सात्विक-राजसिक से ज्ञानेन्द्रियां, तामसिक से ५ तन्मात्रा और ५ तन्मात्राओं से ५ महाभूत बनते हैं। प्रकृति वह तत्त्व कहलाते हैं जिनसे अन्य तत्त्व बनें। जो बनते हैं वह विकृति कहलाते हैं। इनमें जो प्रकृति-विकृति हैं, वे अविशेष विकार हैं और जो विकृति हैं उनसे अन्य तत्त्व नहीं बनते, वे विशेष विकार हैं।

२०. द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

अर्थ—द्रष्टा (पुरुष) दृशिमात्रः (चिति अर्थात् चेतन मात्र है, इसलिए) शुद्धोऽपि (शुद्ध भी है) और प्रत्यय (वृत्ति ज्ञान) अनुपश्यः (के अनुसार देखता है)।

'असंगोऽयमात्मा'—यह आत्मा असंग है, 'नित्य शुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभावोऽयमात्मा'—यह आत्मा नित्य शुद्ध, ज्ञान स्वरूप और मुक्त स्वभाव है। यह सांख्य का सिद्धान्त योग और वेदान्त दोनों को मान्य है। यही बात इस सूत्र में कही गई है कि वह तो देखने की शक्ति मात्र रखता है। जैसी वृत्ति चित्त पर उदय होती है, वह चिन्मयी दृशि शक्ति वैसा ही रूप धारण कर लेती है, उस पर कोई विकार नहीं आता, जैसे स्फटिक मणि रंगा-सा दिखाई देता है, रंगा नहीं जाता।

द्रष्टा-दृश्य का संयोग जो हेय का हेतु कहा गया है, स्फटिक के समीपस्थ दृश्य पदार्थों के रंग से रञ्जित होने के सदृश ही

भ्रांति मात्र है। दृश्य त्रिगुणात्मक है और प्रकृति के विकारों का बना है, इसलिए जड़ अचेतन है। स्वयं उसे अपनी सत्ता से कोई अर्थ नहीं, केवल पुरुषों के लिए ही उसकी सार्थकता है। पुस्तकों को पढ़ने वाला कोई न हो तो उनके सञ्चय से क्या लाभ ? इस अभिप्राय से कहते हैं कि—

२१. तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ।

अर्थ—तदर्थ (पुरुष के लिए) एव (ही) दृश्यस्य (दृश्य का) आत्मा (अस्तित्व) है।

यहां आत्मा का अर्थ स्वरूप समझना चाहिए, न कि चेतन पुरुष। उपर्युक्त 'भोगापवर्गार्थं दृश्यं' पद का ही इस सूत्र में स्पष्टीकरण किया गया है। पुरुष को भोग और मोक्ष देने में उसकी उपयुक्तता है। दृश्य को अपने अस्तित्व से कोई स्वार्थ नहीं, इसलिए मोक्ष होने पर दृश्य का क्या होता है ?—यह बात अगले सूत्र में कहते हैं कि—

२२. कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।

अर्थ—कृतार्थं प्रति (मुक्त पुरुष के लिए) नष्टमपि (नष्ट हो जाने पर भी) अनष्टं (नष्ट नहीं होता) तत् (वह) अन्य साधारणत्वात् (अन्य पुरुषों के लिए साधारण वैसा ही बने रहने के कारण)।

यदि स्वरूप से नष्ट नहीं होता तो कृतार्थ (मुक्त) पुरुष के प्रति नष्ट हो जाना कैसे सम्भव है ? एक ही वस्तु युगपद नष्ट भी और अनष्ट भी नहीं हो सकती। दो विपरीत भावों का युग-

पद रहना युक्तियुक्त नहीं, इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

२३. स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ।

अर्थ—स्व (अपनी अर्थात् दृश्य की) स्वामि (और उसके स्वामी पुरुष की) शक्त्योः (दोनों शक्तियों के) स्वरूपोपलब्धि (स्वरूपों की उपलब्धि का) हेतुः (कारण) संयोगः (उनका संयोग है)।

ऊपर कहे गये द्रष्टा और दृश्य दोनों के स्वरूप को समझने से स्पष्ट हो जाता है कि स्वरूप का ज्ञान चेतन पुरुष को सम्भव है; अचेतन दृश्य को नहीं और पुरुष को भी स्वरूप स्थिति में द्रष्टा, दर्शन, दृश्य की त्रिपुटी का अभाव हो जाता है। वह स्वयं शुद्ध ज्ञान स्वरूप है जिसमें जानने की वृत्ति नहीं होती। जब दोनों का संयोग होता है, तब वह अपने और दृश्य दोनों के अस्तित्व को अनुभव करता है। संयोग के विच्छेद हो जाने पर जब द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो जाती है, उस मुक्त अवस्था में उसको दृश्य का अभाव हो जाता है, परन्तु अन्य सर्वसाधारण पुरुषों का संयोग दृश्य से बना रहने के कारण उनके लिए दृश्य का अस्तित्व बना रहता है। अब यह जानना आवश्यक है कि संयोग का कारण क्या है? सो कहते हैं कि—

२४. तस्य हेतुरविद्या ।

अर्थ—तस्य (उस संयोग का) हेतुः (कारण) अविद्या है।

अविद्या चार प्रकार की कही जा चुकी है अर्थात् अनात्म दृश्य में आत्म ख्याति, अनित्य दृश्य में नित्यता की ख्याति,

दुःख रूप हेय दृश्य में सुख की ख्याति और नश्वर परिणामी होने के कारण अपवित्रतापूर्ण दृश्य में पवित्रता की ख्याति अविद्या है। इसलिए--

२५. तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

अर्थ—तत् (उस अविद्या के) अभावात् (अभाव से) संयोगाभावः (संयोग का अभाव हो जाता है), हानं (उस हान को) तद्दृशेः (उस दृश्य की) कैवल्यम् (कैवल्य मुक्ति कहते हैं)।

अविद्या का अभाव होने से दोनों का अभाव हो जाता है और दृश्य का हान होने पर द्रष्टा का केवल अपने स्वरूप में स्थित होना कैवल्य पद कहलाता है।

अब अगले सूत्र में हान का उपाय कहते हैं--

२६. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

अर्थ--विवेकख्यातिः (दृश्य और द्रष्टा दोनों के स्वरूप की अन्यता का ज्ञान) अविप्लवा (भिन्न-भिन्न, दोनों के संकरण-मिश्रण से रहित अन्यता स्वरूप ज्ञान) हानोपायः (हान का उपाय है)।

ज्यों-ज्यों विवेक-ख्याति अर्थात् द्रष्टा पुरुष और दृश्य की अन्यता-भिन्नता का प्रकाश बुद्धि में स्थिर होता जायगा, त्यों-त्यों अविद्या का हान बढ़ता जायगा अर्थात् अविद्या शिथिल होते-होते नष्ट हो जायगी।

द्रष्टा की यह दृढ़ भावना कि वह बुद्धि से भिन्न नहीं है अर्थात् उसका बुद्धि से तादात्म्य ही अविद्या का रूप है। ऋतंभरा प्रज्ञा

के उदय होने पर वह अपने स्वरूप को बुद्धि से पृथक् भिन्न जानने लगता है और यही अविद्या के दूर करने का एक उपाय है कि पुरुष और बुद्धि की अन्यता का ज्ञान बुद्धि में इतना दृढ़ हो जाय कि मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाय। इससे स्पष्ट है कि विवेकख्याति एकदम नहीं होती, वरन् उसके कई स्तर होने चाहियें। यह स्तर सात हैं। यह अगले सूत्र में कहते हैं—

२७. तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।

अर्थ—तस्य (उस विवेक ख्याति की) सप्तधाप्रान्तभूमिः (सात प्रकार के प्रान्तों में विभक्त अथवा स्तर वाली भूमि) प्रज्ञा (ऋतंभरा प्रज्ञा वाली बुद्धि) होती है।

ऋतंभरा प्रज्ञा के सात स्तर होते हैं, जिन्हें भूमिका भी कहते हैं। जब तक ऋतंभरा प्रज्ञा का उदय नहीं होता, विवेक-ख्याति का भी आरम्भ नहीं होता। उससे पूर्व बुद्धि पर तमोगुण और रजोगुण का साम्राज्य रहता है। ऋतंभरा में शुद्ध सत्वगुण के बाहुल्य से तम, रज दोनों दब जाते हैं और तब विवेकख्याति का आरम्भ होता है। व्यास-भाष्य में सात भूमिकाओं का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—

(१) यह दृश्य हेय है, ऐसा अनुभव प्राप्त पूरा ज्ञान, (२) हेय के हेतु क्लेशों की सम्पूर्ण क्षीणता का लाभ, (३) निरोध समाधि द्वारा द्रष्टा-दृश्य की अन्यता के प्रत्यक्षीकरण द्वारा हान का अनुभव, (४) विवेकख्याति रूपी हानोपाय के फलस्वरूप आत्म-सन्तोष। ये चारों—हेय, हेय हेतु, हान और हानोपाय से क्रमशः

सम्बन्धित और साधन-साध्य हैं अर्थात् इनकी प्राप्ति साधन के बिना नहीं होती। शेष तीनों ज्ञान-साध्य हैं अर्थात् वे विवेक-ख्याति के स्वल्प, मध्यम और उत्तम तीन स्तर हैं। यह तीनों जीवन-मुक्ति की अवस्थायें हैं, जिनका स्वरूप आगे कहते हैं—(५) भूमिका अथवा ज्ञान की प्रथम भूमिका में साधक अपने को कृतार्थ समझता है, (६) दूसरी भूमिका में तीनों गुण, अपने कारण अहंकार सहित, उसके भी कारण महत् में लीन हो जाते हैं और फिर उनका उत्थान नहीं होता, (७) और तीसरी भूमिका त्रिगुणातीत निर्विकल्पावस्था है। प्रथम में ज्ञानी जाग्रतवत् व्यवहार करता है, दूसरी अवस्था स्वप्नवत् जगत् को देखने वाली और तीसरी सुषुप्तिवत् रहती है।

२८. योगाङ्गाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

अर्थ—योगाङ्ग (अष्टांग योग के) अनुष्ठानात् (अनुष्ठान से) अशुद्धिक्षये (अशुद्धि के क्षय होने पर) ज्ञान दीप्तिः (ज्ञान की दीप्ति होती है) आ विवेकख्यातेः (विवेकख्याति पर्यन्त)।

अष्टांगयोग के अभ्यास से अशुद्धि का क्षय होता है और ज्यों-ज्यों अशुद्धि कम होती जाती है, ज्ञान का प्रकाश उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, जहां तक कि विवेकख्याति का उदय न हो।

२९. यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।

अर्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि,—ये योग के आठ अङ्ग हैं।

३०. अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

अर्थ--अहिंसा,सत्य,अस्तेय (दूसरे के धन का अपहरण न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (अपनी आवश्यकताओं से अधिक का सञ्चय न करना) यम कहलाते हैं।

इनका पालन मनसा, वाचा, कर्मणा,—सब प्रकार से किया जाना चाहिये। हिंसा से प्राणघात करना ही नहीं, दूसरों को दुःख पहुँचाना भी हिंसा की परिभाषा में आ जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य को भी व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। आठों प्रकार के मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य है, अर्थात्—

स्मरणं कीर्तनं केलि प्रेसणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥

अर्थ--स्मरण करना (उपन्यासों का पढ़ना भी इसी श्रेणी में आ जाता है) चर्चा करना, क्रीड़ा करना, कामुक दृष्टि से देखना, छुप कर बातें करना, संकल्प करना, यत्न करना और मैथुन,—यह अष्टधा मैथुन कहलाता है।

३१. जाति देश काल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।

अर्थ--एते (ये) जाति (प्राणियों की अनेक जातियां ह) देश (तीर्थादि) काल (युग) समय (अवसर विशेष) अनवच्छिन्नाः (के निमित्तों से बिना छूट के) पालनीय होने के कारण सार्वभौम महाव्रत हैं।

जाति—जैसे मछिहारा कहे कि मछली को मारना हिंसा नहीं, मनुष्यों को मारना ही हिंसा है, ऐसा जाति से अनविच्छिन्न, देश--कोई कहे कि काली या तीर्थों पर हिंसा करना हिंसा नहीं है अथवा पाश्चात्य देशों में माँस खाना आवश्यक होने से वहां हिंसा करने में दोष नहीं है, ऐसी देशानवच्छिन्न, काल—जसे आपत्तिकाल में हिंसा करने में दोष नहीं है, ऐसी कालानवच्छिन्न, समय—जैसे नवरात्रि पर अथवा बलि देने के समय हिंसा हिंसा नहीं है,—ऐसी चारों प्रकार की छूट के बिना सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा अहिंसादि यमों का पालन सार्वभौम महाव्रत योगियों को ग्राह्य है।

३२. शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।

अर्थ--शौच (अन्तः और बाह्य) संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम कहलाते हैं।

मिट्टी-जल द्वारा बाह्य शौच और शुद्ध-पवित्र विचारों द्वारा,—काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, द्वेष, तमोगुण, रजोगुण से अन्तःकरण को मुक्त रखना,—अन्तशौंच है। मन में अनेक प्रकार की कामनायें भी मन को मलीन करती हैं। तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान प्रथम सूत्र में कहे जा चुके हैं।

३३. वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।

अर्थ—वितर्क (विपरीत विचारों के आने पर) बाधने (उनको हटाने के लिए) प्रतिपक्ष (उनको दबाने के लिए विरोधी) भावनं (ध्यान करना चाहिए)।

यम-नियम के विरोधी विचारों को यहां वितर्क कहा है। उस समय ऐसी भावना हृदय में जागृत करनी चाहिए कि वे वितर्क उससे दब जायें। जैसे—

३४. वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभ-क्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञाना-नन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।

अर्थ—वितर्काः (विपरीत विचार) हिंसादयः (हिंसा, असत्य, स्तेय, ब्रह्मचर्य का प्रमाद और परिग्रह हैं, ये) कृत (स्वयं किये जाने वाले) कारित (दूसरों द्वारा कराये जाने वाले) अनु-मोदिताः (दूसरों के करने पर उनका अनुमोदन किए गए, तीनों प्रकार से) लोभक्रोधमोहपूर्वकाः (लोभ, क्रोध अथवा मोहवश) मृदुमध्याधिमात्रा (मृदु, मध्य और अधिमात्रा में होते हैं) दुःखाज्ञानानन्त फला (जिनका फल अनन्त अज्ञान और दुःखरूप है) इति (इस प्रकार) प्रतिपक्षभावनम् (उनको दबाने के लिए प्रतिपक्षी भावना जागृत करनी चाहिए)।

हिंसादि की प्रेरणा लोभ, क्रोध या मोह वश होती है, चाहे मनुष्य स्वयं करे, दूसरों से करावे या दूसरों के कृत्यों का अनु-मोदन करे और ये तीन श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं, जैसे मृदु हिंसा वह है जिसमें किसी का चित्त दुखी हो, मध्य जिसमें मार-पीट की जावे और अधिमात्र जिससे मृत्यु हो जाए, इत्यादि। उसकी प्रतिपक्ष भावना यह है कि उसके फलस्वरूप हमें

भी फल भोगना पड़ेगा और लोभ, मोह के कारण बुद्धि पर तमोगुण, रजोगुण का आवरण आकर न जाने कितने जन्म तक अविद्या में पड़े रहना होगा !

अब यम-नियमों के साधन सिद्ध होने पर जो सिद्धियां आती हैं, उनका आगे सूत्र ४५ तक वर्णन है—

३५. अहिंसाप्रतिष्ठायाम् तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।

अर्थ - अहिंसा (व्रत के) प्रतिष्ठायाम् (सिद्ध होने पर) तत्सन्निधौ (उस साधक की सन्निधि में) वैरत्यागः (आने वाले पशु, मनुष्य और सर्पादि वैर भावना को छोड़ देते हैं)।

३६. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।

अर्थ—सत्य प्रतिष्ठायां (सत्य की प्रतिष्ठा होने पर) क्रिया फल (उसके वचन में क्रिया के फल देने का) आश्रयत्वम् (आश्रयत्व आ जाता है) अर्थात् उसको वाक् सिद्धि होती है। उसके आशीर्वाद और शाप फलने लगते हैं ।

३७. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।

अर्थ—अस्तेय प्रतिष्ठायां (चोरी न करने के व्रत की प्रतिष्ठा होने पर) सर्वरत्नोपस्थानम् (सब रत्न उसके पास आ उपस्थित होते हैं)।

३८. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।

अर्थ—ब्रह्मचर्य सिद्ध होने पर बल आता है ।

३९. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ।

अर्थ अपरिग्रह स्थिर होने पर पूर्व जन्म कैसा था ?—यह ज्ञात हो जाता है।

४०. शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।

अर्थ—शौचात् (शौच से) स्वाङ्ग (अपने देह से) जुगुप्सा (घृणा) और परैः (दूसरों से) असंसर्गः (न मिलने की इच्छा) हो जाती है।

जब अपना ही देह सदा अपवित्र दीखने लगता है, तब दूसरों का संसर्ग कैसे अच्छा लग सकता है ? यह बाह्य शौच का फल है। अब अन्तः शौच का फल कहते हैं—

४१. सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन योग्यत्वानि च ।

अर्थ—सत्वशुद्धिः (सत्व गुण-प्रधान बुद्धि की शुद्धि से) सौमनस्य (मन का सौम्य होना) एकाग्र्य (मन की एकाग्रता) इन्द्रियजय (इन्द्रियों पर जय, और) आत्म दर्शन योग्यत्वानि (आत्म दर्शन के लिए योग्यता) आती हैं।

उपनिषद् का कहना है—'आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि, सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृतिः' जिस पर श्री पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में आहार की व्याख्या सब इन्द्रियों के विषयों के ग्रहणार्थ में की है। जैसे श्रवणेन्द्रिय का आहार शब्दों का श्रवण है, दृष्टि का आहार रूप ग्रहण है, स्पर्शेन्द्रिय का आहार सब प्रकार के

स्पर्श, रसेन्द्रिय का आहार रसास्वाद और घ्राणेन्द्रिय का आहार सुगंध-दुर्गंध है। इस दृष्टि से सब प्रकार के विषयों का भोग आहार कहला सकता है, न कि केवल भोजन के पदार्थ ! यही भाव गीता के नीचे दिए श्लोक में है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

इसलिए अहिंसादि यमों के सार्वभौम महाव्रत युक्त जो विषय-भोग राग-द्वेष-विमुक्त इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है, उसी से बुद्धि में शुद्ध सत्त्व गुण का प्रभाव बढ़ता है और उससे उत्तरोत्तर सौमनस्य, एकाग्रबुद्धि, इन्द्रिय-जय और आत्म-दर्शन की योग्यता आती है। यथा—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

४२. संतोषादनुत्तमसुखलाभः ।

अर्थ—संतोषात् (संतोष से) अनुत्तम (अत्युत्तम) सुखलाभः (सुख की प्राप्ति होती है)।

४३. कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।

अर्थ—काय (स्थूल शरीर) इन्द्रिय (और इन्द्रियों की) सिद्धिः (सिद्धि आती है) अशुद्धिक्षयात् (उनकी अशुद्धि के क्षय होने के कारण) तपसः (तप से)।

शारीरिक सिद्धियां कायसंपत् कहलाती हैं, (देखें सूत्र ३, ४८) और इन्द्रियों की सिद्धियां उनकी दिव्य शक्तियां हैं।

४४. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

अर्थ—स्वाध्यायात् (जप द्वारा) इष्ट देवता (मंत्र के अधिदेवता का) संप्रयोगः (साक्षात्कार होता है)। कहा है—

स्वाध्यायाद्योगमासीत, योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

४५. समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।

अर्थ—समाधिसिद्धिः (समाधि सिद्ध होती है) ईश्वर प्रणिधानात् (ईश्वर प्रणिधान से)।

प्रथम पाद में ईश्वर की भावना सहित उसके वाचक प्रणव के जप द्वारा प्रत्यक्चेतनाधिगम और अन्तरायों का अभाव कहा गया और इस पाद के प्रथम सूत्र में तप सहित क्रियायोग का फल विवेकख्याति और क्लेशों का तनु होना बताया गया। फिर यहाँ यमों के व्रतपूर्वक शौच संतोष सहित क्रियायोग का फल इष्टदेव के साक्षात्कार पूर्वक समाधि की सिद्धि कही गई है। अभिप्राय यह है कि प्रणव-जप रूपी स्वाध्याय सहित यदि 'पूर्वेषामपिगुरुः' इस भावना से युक्त होकर ईश्वर प्रणिधान का साधन किया जाय तो साधक को सद्गुरु के रूप में ईश्वर की जागृति होकर उसकी कृपा स्वरूप समाधि की सिद्धि होती है। इससे यह बात स्पष्ट है कि योग-साधन का प्रधान अङ्ग ईश्वर की भावना सहित प्रणव का

जप रूपी स्वाध्याय है। परन्तु फल की तारतम्यता का कारण अन्तःकरण की शुद्धि की न्यूनाधिकता है। क्लेशों के तनु और बुद्धि सत्व की अशुद्धि का क्षय होने पर पूरे फल की आशा की जानी चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि साधक यम-नियमों को गौण समझ कर उनकी ओर ध्यान नहीं देते और फिर शिकायत करते हैं कि उनकी कोई प्रगति नहीं होती। अब यह शंका की जा सकती है कि यदि यम-नियमों का पालन ही समाधि-सिद्धि के लिए पर्याप्त है तो अन्य अङ्गों की आवश्यकता क्यों? परन्तु अन्य अंग, जो आगे कहे जायेंगे, उक्त प्रधान साधन के सहायक मात्र हैं। स्वाध्याय (जप) के लिए आसन की आवश्यकता है ही, प्राणायाम और प्रत्याहार दोनों चित्तशुद्धि के लिए हैं, इसीलिए दोनों की गणना तप में की गई है। कहा है—'न प्राणायामात् परं तपः' और 'इन्द्रियाणाम् मनसश्चैव ह्यैकाग्र्यं परमं तपः। तज्जाय सर्व धर्मेभ्य धर्मः परः स उच्यते ॥' धारणा-ध्यान समाधि के पूर्व अंग हैं। अब आसन का रूप कहते हैं—

४६. स्थिरसुखमासनम्।

अर्थ—(साधनकाल में) स्थिरं (स्थिरता से) सुखं (सुखपूर्वक जैसे बैठा जाय बहुत देर तक, वही) आसनं (आसन कहलाता है)।

परन्तु साथ ही मेरुदण्ड, ग्रीवा और शिर को सीधा रखना चाहिए। स्थिरता और सुख,—दोनों की सिद्धि का उपाय अगले सूत्र में बताते हैं—

४७. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।

अर्थ—(आसन पर बैठकर) प्रयत्नशैथिल्य (प्रयत्न करने की शिथिलता अर्थात् शरीर को ढीला रखना और) अनन्त समापत्तिभ्यां (अनन्त के साथ अपनी तद्रूपता की भावना करनी चाहिए)।

अपने आत्मा की सर्वव्यापी अनन्त रूप से भावना करनी चाहिए अथवा अनन्त आकाश या अन्तरिक्ष का ध्यान करना चाहिए अथवा इस विश्व को धारण करने वाली अनन्त शक्ति का ध्यान करना चाहिए।

४८. ततो द्वन्द्वानभिघातः ।

अर्थ—ततः (इससे) द्वन्द्व (सुख-दुःख, जाड़ा-गरमी का) अनभिघातः (प्रभाव नहीं होगा)।

उसको आसन पर बैठे हुए जाड़ा-गरमी, सुख-दुःख नहीं सतायेंगे।

४९. तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

अर्थ—तस्मिन् सति (आसन पर बैठकर) श्वासप्रश्वासयोः (श्वास-प्रश्वास की) गति विच्छेदः (गति का विच्छेद या रुक जाने को) प्राणायामः (प्राणायाम कहते हैं)।

५०. स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।

अर्थ—स (वह) तु (परन्तु) बाह्य (बाहर) अभ्यन्तर (भीतर) और

स्तम्भवृत्ति (रुकी हुई वृत्ति वाला) देश (हृदय, नाभि या मूलाधार तक गति वाला) काल (१२, १६ या २० मात्रा वाला) संख्याभिः (और प्रति दिन १०, २० या अधिक बार किया जाने वाला, त्रिविध प्रकार से प्राणायाम का) परिदृष्टः (परीक्षण किया जाता है, जो) दीर्घ सूक्ष्मः (अभ्यास द्वारा दीर्घ अर्थात् लम्बे समय तक रुके रहने के साथ-साथ सूक्ष्म हो जाता है)।

अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि उसका आना-जाना भी नहीं जाना जाता।

५१. बाह्याभ्यन्तर विषयानक्षेपी चतुर्थः।

अर्थ—बाह्य (रेचक) अभ्यन्तर (पूरक) विषय (वृत्ति) अनक्षेपी (गति रहित) चतुर्थः चौथा केवल कुम्भक) होता है।

५०वें सूत्र में वर्णित पूरक, रेचक वाला 'सहित कुंभक' और इनसे रहित 'केवल कुम्भक' कहलाता है।

५२. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

अर्थ— ततः(उससे) क्षीयते (नष्ट हो जाता है) प्रकाशावरणम् आत्मज्योति को ढकने वाला तमोगुण का आवरण)।

५३. धारणासु च योग्यता मनसः।

अर्थ—च (और) धारणासु (धारणाओं में) योग्यता (योग्यता बढ़ती है) मनसः (मन की)।

मन को किसी भी एक विषय पर स्थिर करने को धारणा कहते हैं। यहां बहुवचन से यह संकेत मिलता है कि षट्चक्र,

नासाग्र, भ्रूमध्य इत्यादि देशों पर मन के स्थिर करने के अनुसार धारणा अनेक होती हैं। धारणा की परिभाषा तीसरे पाद में दी जावेगी। आगे प्रत्याहार समझाते हैं—

५४. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

अर्थ—स्वविषय (अपने-अपने विषयों से) असंप्रयोगे (हटाए जाने पर) चित्तस्वरूपानुकार इव (चित्त के मानो स्वरूप की ओर झुकने की तरह जो स्थिति होती है, वह) इन्द्रियाणाम् (इन्द्रियों का) प्रत्याहारः (प्रत्याहार कहलाता है)।

जब इन्द्रियां अपने-अपने विषयों का संग छोड़ देती हैं और चित्त स्वरूपानुकार होता है, तब कहते हैं कि इन्द्रियां अपने आहार अर्थात् ग्रहण करने के विषयों से प्रतिपक्षी हो गईं किंवा उल्टी दिशा में लौट गईं। जैसे कहा है—

यदा पंचावावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तमाहुः परमां गतिम्॥ —कठ

५५. ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।

अर्थ—ततः (प्रत्याहार से) परमा वश्यता (परम निग्रह रूप वश्य होने की शक्ति आती है) इन्द्रियाणाम् (इन्द्रियों की)।

३. विभूति पाद

गत पाद में अष्टाङ्गयोग के ५ बहिरङ्ग कहकर अब शेष ३ अन्तरङ्ग कहते हैं। इन पर स्वायत्त अधिकार प्राप्त करने पर ही योगी योग-सिद्ध कहलाने का अधिकारी होता है—

१. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

अर्थ—देश (छः चक्र,—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा अथवा अन्य किसी एक विषय पर) बंधः (बांधना) चितस्य (चित्त का) धारणा (धारणा कहलाती है)।

मन को एक विषय पर स्थिर करना ही धारणा है।

२. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

अर्थ—तत्र (उसी धारणा के) प्रत्यय एकतानता (ज्ञान का अखंड-धारा प्रवाह) ध्यानम् (ध्यान कहलाता है)।

धारणा में ध्येय विषय के ज्ञान की वृत्ति का प्रवाह खण्ड-खण्ड रहता है अर्थात् बीच-बीच में टूटता रहता है। जब वह लगातार तैलधारावत् अखण्ड एकतान हो जाय, तब वही ध्यान हो जाता है।

३. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

अर्थ—तदेव (वह ध्यान ही) अर्थमात्रनिर्भासं (जब अर्थ मात्र का भास रह जाय) स्वरूपशून्यमिव (और अपना स्वरूप

शून्य-सा हो जाय,—तब) समाधिः (समाधि कहलाता है)।

प्रथम पाद के सूत्र ४३ की व्याख्या में 'अर्थमात्र निर्भासं स्वरूप-शून्यमिव' पद का स्पष्टीकरण देखें।

४. त्रयमेकत्र संयमः।

अर्थ—त्रयं (धारणा, ध्यान, समाधि) एकत्र (एक ही विषय पर हों) संयमः (तो वह संयम कहलाता है)।

५. तज्जयात् प्रज्ञालोकः।

अर्थ—तत् जयात् (उस संयम के जय से) प्रज्ञा (समाधिजा प्रज्ञा का) आलोकः (प्रकाश आ जाता है)।

संयम पर जय प्राप्त होने का यह फल है कि उसकी बुद्धि में समाधि से उत्पन्न होने वाला प्रकाश चमकने लगता है। जय का अर्थ है कि किसी भी विषय पर जब चाहें, धारणा-ध्यान-समाधि का अव्यभिचारी अटूट तार यथेच्छ बांधा जा सके। बिना संयम पर जय प्राप्त किए कोई योगी, योगी कहलाने योग्य नहीं, वह केवल नामधारी योगी है और उस नाम की सार्थकता विज्ञापन मात्र समझनी चाहिये।

६. तस्य भूमिषु विनियोगः।

अर्थ—तस्य (उस संयम का) भूमिषु (स्थूल-सूक्ष्म-सूक्ष्मतर स्तरों पर अलिङ्गपर्यवसान पर्यन्त अर्थात् अव्यक्त प्रकृति और आत्मतत्त्व तक पर, जो सूक्ष्मतम है) विनियोगः (प्रयोग किया जा सकता है)।

पूर्वकथित वितर्क, विचार, सानन्द, सास्मिता की संप्रज्ञात और

आत्मतत्त्व सम्बन्धी असंप्रज्ञात समाधियों पर चित्त-निरोध रूपी साधन, संयम पर जय प्राप्त करने के पश्चात् ही सम्भव है।

७. त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ।

अर्थ—त्रयं (धारणा, ध्यान, समाधि,—तीनों, इसीलिए) अन्तरङ्गं (अन्तरङ्ग अङ्ग हैं) पूर्वेभ्यः (पूर्वकथित यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार पांचों अङ्गों की अपेक्षा)।

८. तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ।

अर्थ—तदपि (तथापि ये तीनों अन्तरङ्ग भी) बहिरङ्गं (बहिरङ्ग साधन ही हैं) निर्बीजस्य (निर्बीज समाधि के)।

प्रथम पांच अङ्गों में वृत्तियां दृश्य से संयुक्त रहती हैं। धारणा द्वारा वृत्ति तो अन्तर्मुखी होती है, क्योंकि बाहर के पदार्थों के संयोग का विच्छेद हो जाता है, परन्तु अन्तर में उनके ज्ञान की वृत्ति बनी रहती है। इसलिए धारणा, ध्यान, समाधि,—तीनों उनकी अपेक्षा अन्तरङ्ग होते हुए भी असंप्रज्ञात की अपेक्षा बहिरङ्ग ही हैं। संप्रज्ञात में दृश्य-विषयी प्रज्ञा रहने के कारण उसमें दृश्य के संयोग के हेतु अविद्या का बीज सुरक्षित रहता है, जिसका नाश असंप्रज्ञात में ही होता है—'परं दृष्ट्वा निवर्तते'। इसी कारण संप्रज्ञात को सबीज और असंप्रज्ञात को निर्बीज समाधि कहा गया है।

मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र या निरुद्ध जिस किसी अवस्था में चित्त चिरकाल तक रहता है, उस पर वैसे ही संस्कार दृढ़ हो जाने के कारण वह उस अवस्था का अभ्यस्त हो जाता है।

यद्यपि उन संस्कारों के परिवर्तन से तदनुसार वह भी बदलता रहता है। चित्त के इस अवस्था-परिवर्तन को परिणाम कहते हैं। मूढ़, क्षिप्त अवस्थाएँ योग नहीं कहलातीं, यद्यपि वे समाधि में बाधक नहीं होतीं अर्थात् मूढ़ और क्षिप्त चित वाला व्यक्ति भी योग का अधिकारी बन सकता है, परन्तु विक्षिप्त अवस्था समाधि के लिये बाधक होती है। एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाएं योग-साधन में लगे योगी के चित्त में ही होती हैं, इसलिए 'चित्त परिणाम' विशेष अर्थ में इन दोनों अवस्थाओं के परिवतन के लिए ही प्रयुक्त होता है। चित्त की एकाग्र अवस्था चिरकाल तक बनी रहने पर वह उसी अवस्था में रहने का अभ्यस्त हो जाता है और फिर वह निरोधाभिमुख होने लगता है, यद्यपि बीच-बीच में वह निरोधावस्था से विचलित भी होता रहता है। इस प्रकार विचलित होने को व्युत्थान कहते हैं अर्थात् धारणा के समय व्युत्थान और निरोध रूपी तरङ्गों का प्रवाह रहता है। धारणा से ध्यानारूढ़ होते समय व्युत्थान कम होने लगते हैं, यहां तक कि चित्त का प्रवाह निरोध की ओर बढ़ने लगता है। निरोध के इस क्रम को तीन स्तरों में बांटा जाता है, जिन्हें परिणाम-त्रय कहते हैं। उनका रूप आगे के सूत्रों में बताया जायेगा।

९. व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरविभवप्रादुर्भावौ निरोध लक्षण चित्तान्वयो निरोध परिणामः।

अर्थ—व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः (व्युत्थान के संस्कार और निरोध के संस्कार,दोनों में) अविभवप्रादुर्भावों (पहलों का अविभव,

कम होना या दबते रहना और दूसरों का प्रादुर्भाव अर्थात् बढ़ते जाना) निरोधलक्षण चित्तान्वयः (निरोध के लक्षण को धारण करने वाले चित्त के अन्वय अर्थात् परिवर्तन को) निरोध परिणाम कहते हैं।

यह चित्त की निरोधाभिमुखी अवस्था है।

१०. तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।

अर्थ—तस्य (उस निरोध परिणाम का) प्रशान्त वाहिता (बिना व्युत्थानों का शान्त प्रवाह) संस्कारात् (उसके संस्कार के दृढ़ होने पर) बहने लगता है।

जब व्युत्थान होना सर्वथा बन्द हो जाय तब निरोध परिणाम के संस्कार चित्त पर दृढ़ हो जाने पर चित्त निरुद्ध रहने का अभ्यस्त हो जाता है।

११. सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणामः।

अर्थ—सर्वार्थता (सर्व विषयी) एकाग्रतयोः (और एकार्थता रूपी एकाग्रता दोनों में) क्षयोदयौ (पहली का क्षय और दूसरी का उदय) चित्तस्य (चित्त का) समाधि परिणाम कहलाता है।

व्युत्थान के समय ध्येय अर्थ के साथ उस अर्थ के साथी अनेक अर्थ, युगपद रहते हैं। जैसे ध्येय का विषय भगवान की मूर्ति है, तब पहले मूर्ति के साथ ऐसी अनेक बातें चित्त में होनी सम्भव हैं, जैसे—मूर्ति पत्थर या धातु की है, हम मंदिर में बैठ कर उसका

ध्यान कर रहे हैं, हमारे साथ अन्य बहुत-से मनुष्य हैं, यहां अगरबत्तियों की सुगन्ध आ रही है, पास में पूजन की सामग्री रखी हुई है, भगवान् की मुद्रा या छवि सुन्दर है, वह किसी कुशल कारीगर की गढ़ी हुई है, शृङ्गार अच्छा किया हुआ है—इत्यादि। परन्तु ध्याता के ध्यान का मुख्य ध्येय मूर्ति नहीं है। वह उस मूर्ति के प्रतीक द्वारा अपने इष्ट का ध्यान करना चाहता है। निरुद्ध चित्त अन्य ऐसे सब अर्थों को भुला कर केवल अपने इष्ट में तन्मय हो जाता है, क्योंकि ध्येय विषय का अर्थ उसका इष्ट है न कि अन्य बातें। जिस समय चित्त की सर्वार्थता कम होती जाती है और ध्येय के अर्थ पर एकाग्रता बढ़ने लगती है, उसे समाधि परिणाम कहते हैं।

परिणाम, प्रवाह अथवा परिवर्तन के क्रम के साथ काल का ज्ञान भी बना रहता है, क्योंकि चित्त में विषयों के उदय-अस्त के साथ एक क्षण का जाना, दूसरे क्षण का उसके स्थान पर उदय होना ही वर्तमान कहलाता है। यदि चित्त में परिणाम होना बन्द हो जाय तो काल का भी अभाव हो जायगा। इस अवस्था को अगले सूत्र में कहते हैं—

१२. शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः।

अर्थ—शान्त (अतीत भूत में गये हुए) और उदित (भविष्य से वर्तमान में उदय होने वाले) तुल्य प्रत्ययौ (ज्ञान के एक समान हो जाने को) चित्तस्य (चित्त का) एकाग्रता परिणामः (एकाग्रता परिणाम कहते हैं)।

उस समय काल के प्रवाह का ज्ञान नहीं रहता। एक घण्टे तक भी ध्यानस्थ रहने के पश्चात् उसको यही प्रतीत होता है कि अभी बैठा हूं।

ऊपर चित्त के परिणामों पर विचार किया गया। परन्तु दृश्य जगत का ऐसा कौन-सा पदार्थ अथवा तत्त्व है जो परिणामी नहीं है? कहा है—'परिवर्तनशीलोहि संसारः' संसार के सब पदार्थ परिणामी हैं, केवल अपनी आत्मा ही अपरिणामी है। हमारी बुद्धि, चित्त, मन, इन्द्रियां, इन्द्रियों के विषय यावत् प्रकृति का प्रसार है, सब क्षण-प्रतिक्षण बदल रहा है। इसलिए अगले सूत्र में इस परिणाम की ओर लक्ष्य कराया गया है और उस परिणाम का स्वरूप भी समझाया जाता है कि—

१३. एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था परिणामा व्याख्याताः।

अर्थ—एतेन (उपर्युक्त एकाग्रता परिणाम वाले सूत्र द्वारा) भूतेन्द्रियेषु (पञ्च महाभूत और इन्द्रियों में) धर्मलक्षणावस्था परिणामाः (धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम, जो ये तीन प्रकार के परिणाम होते रहते हैं) व्याख्याताः (उनकी भी व्याख्या हो गई)।

धर्म परिणाम—जैसे रुई धर्मी है और उस से धागा काता जा सकता है, यह रुई का धर्म है। रुई का धागे में परिणत होना उसका धर्म परिणाम है।

लक्षण परिणाम—रुई में धागा बनने की क्रिया रूप परिणति

में वर्तमान कालीन रुई में भविष्य में धागा बनने का परिणाम होगा। जब धागा बन गया, तब उस अनागत धागे ने वर्तमान में धागे का रूप धारण कर लिया और रुई का रूप अतीत में चला गया। अनागत रूप का वर्तमान में व्यक्त होना और वर्तमान रूप का अतीत में विलीन हो जाना लक्षण परिणाम कहलाता है।

अवस्था परिणाम—वही रुई दो-चार वर्ष रखी रहने पर खराब हो जाती है। यद्यपि खराब होना प्रतिक्षण जारी रहता है, परन्तु ज्ञात कालान्तर में होता है। यह उसकी अवस्था का परिणाम है।

उक्त तीनों परिणाम चित्त और ध्येय प्रत्यय में भी होते हैं, परन्तु एकाग्रता परिणाम में यह सब तुल्य प्रत्यय हो जाते हैं। धागा बनने पर रुई का रुईपना शान्त हो गया और धागापना जो अब तक अव्यपदेश्य अर्थात् दृष्टि से छुपा हुआ था, वर्तमान में उदित हो गया। इस प्रकार रुई रूपी धर्मी में शान्त, उदित और अव्यपदेश रूपी धर्म के अनुसार परिणाम होता रहता है, यह बात अगले सूत्र में कही गई है—

१४. शान्तोदिताव्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मी।

अर्थ—शान्त (अतीत) उदित (वर्तमान में उदय होने वाला) अव्यपदेश्य (भविष्य में छुपा हुआ) धर्मानुपाती (धर्म के अनुसार परिणत होने वाला) धर्मी है।

अर्थात् धागा रुई से भिन्न पदार्थ नहीं है वरन् रुई का परिणत धर्म है और धर्मी रुई धागे में भी विद्यमान है।

१५. क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ।

अर्थ—क्रम का अन्यत्व परिणाम के अन्यत्व में कारण है ।

रुई से धागा, धागे से वस्त्र बनने के क्रम में जो पदार्थ का अन्यत्व दीख पड़ता है, उस परिणाम के अन्यत्वभाव का कारण क्रम में अन्यत्व है। अर्थात् प्रत्येक प्रकार के परिणाम द्वारा जो पदार्थ का रूप बदलता रहता है, वह प्रतिक्षण क्रमानुसार होता रहता है अथवा यों कहें कि परिणाम क्रमशः होता है और प्रत्येक परिणाम में पूर्वापर क्रम रहता है। यदि क्रम बदल जाता है तो परिणाम भी बदल जाता है।

यहां तक धारणा, ध्यान, समाधि के क्रम से चित्त के परिणामों और संयम को समझा कर आगे उस संयम द्वारा योगी किस प्रकार अनेक प्रकार की सिद्धियां प्राप्त कर सकता है ?—यह बताया जाता है।

१६. परिणामत्रय संयमादतीतानागतज्ञानम् ।

तीनों परिणामों पर संयम करने से भूत, भविष्यत् का ज्ञान होता है।

मानो आप राम-राम, हरे-हरे, शिव-शिव अथवा ओम्-ओम् का जप कर रहे हैं। उस जप के साथ-साथ आप अपने चित्त पर भी ध्यान रखें कि वह किस प्रकार निरोध, समाधि और एकाग्र परिणामों में से गुजर रहा है एवं साथ-ही-साथ उसके धर्म, लक्षण और अवस्था तीनों बदलते जा रहे हैं। इस संयम का फल यह होगा कि भूत, भविष्य भासने लगेगा।

चित्त के परिणामों के संयम के पश्चात् आप अपने ध्येय पर लक्ष्य जमावें। प्रत्येक ध्येय विषय का ज्ञान त्रिविध शब्द, अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान) का संकरण अर्थात् परस्पर मिला हुआ ज्ञान होता है।

१७. शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ।

अर्थ—शब्दार्थ प्रत्ययानाम् (शब्द, अर्थ और प्रत्यय तीनों के) इतरेतर (एक-दूसरे के पारस्परिक) अध्यासात् (अध्यास के कारण अर्थात् एक के द्वारा दूसरे के धर्मों को अपने ऊपर आरोपित करने के कारण) संकरः (जो मिश्रित वृत्ति है) तत् प्रविभाग (उसका पृथक्करण करके शब्द को अर्थ से, अर्थ को प्रत्यय से पृथक् करके उनके प्रविभाग पर) संयमात् (संयम करने से) सर्वभूतरुत (सब प्राणियों के शब्दों का) ज्ञानं (ज्ञान होने लगता है।)

इसके पश्चात् चित्त पर जो संस्कार पड़ा है, उस पर लक्ष्य दें। उस पर संयम द्वारा—

१८. संस्कार साक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ।

जब संस्कारों का साक्षात्करण होगा, उससे पूर्वजन्म का ज्ञान हो जायगा।

संयम का अर्थ धारणा, ध्यान, समाधि तीनों में एक ही ध्येय विषय का रहना कहा गया है। अब आप विचारपूर्वक देखें कि हमारे ध्यान के समय कितनी वस्तुएं युगपद हैं (१) चित्त के

परिणाम-क्रम का प्रवाह (२) ध्येय के नाम, अर्थ और प्रत्यय की संकरणयुक्त वृत्ति (३) उससे पड़ने वाले संस्कार जो स्मृति का रूप धारण कर रहे हैं। ऊपर के तीन सूत्रों में तीनों पर अलग-अलग संयम करने का फल कहा गया है। ऐसा फल होना कैसे सम्भव है ?—यह भी वैज्ञानिक नियमों के समझ लेने पर सम्भव दीखने लगेगा, क्योंकि प्रत्येक कार्य अपने कारण का फल हुआ करता है। भविष्य में छिपा ज्ञान वर्तमान में व्यक्त होता है और भूत में विलीन होता है। उस ज्ञान का धर्मी विषय तीनों कालों में अपने धर्म, लक्षण और अवस्था के भेद से बदल रहा है, इसलिए संयम से उत्पन्न होने वाली प्रज्ञा में तीनों कालीन ज्ञान चमकने लगता है। इसी प्रकार ध्येय विषय के नाम-रूप प्रत्यय पर संयम करने से उसका निहित ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और पूर्व जन्म के संस्कारों की शृङ्खला के वर्तमान कालीन सिरे को पकड़ कर पूर्व संस्कारों की स्मृति को जागृत किया जा सकता है। अब मानो आपके पास कोई व्यक्ति मिलने आता है। उसके मुख की आकृति, मुद्रा और उसके उद्गारों की वृत्तियां आप के चित्त पर उदय होंगी। उसके चित्त के ज्ञान के कार्य होने के कारण उनका सम्बन्ध के उस ज्ञान से है, इसलिए--

१९. प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।

अपने चित्त के वृत्तिप्रत्यय पर संयम करने से उस व्यक्ति के चित्त का ज्ञान आपको हो जाएगा। परन्तु—

२०. न च तत्सालम्बनं तस्याविषयी भूतत्वात्।

परन्तु उस परचित्तज्ञान के साथ उसके कारण, रूप, आलंबन का ज्ञान नहीं होगा,क्योंकि वह आपके संयम का विषय नहीं है।

जैसे मानो वह मनुष्य आपकी परीक्षा करने आया है, यह तो ज्ञान आपको हो जायगा, परन्तु वह जिस उद्देश्य से परीक्षा लेने आया, उसकी परीक्षा का वह प्रेरक आधार आपके संयम का विषय न होने के कारण अज्ञात ही रहेगा।

अब मानो आप उस व्यक्ति के दूषित अन्तरभाव को जान कर उससे मिलना नहीं चाहते और उस पर अपने सामर्थ्य की छाप भी डालना चाहते हैं और तदर्थ वहीं बैठे-बैठे अन्तर्धान हो जाते हैं। अब अन्तर्धान होने की प्रक्रिया बताते हैं कि—

२१. कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम्।

काया के रूप पर संयम करने से, उस रूप की ग्राह्य-शक्ति के स्तम्भित होने पर, चक्षु और प्रकाश का संयोग न रहने अर्थात् टूट जाने से आप अन्तर्धान हो जायेंगे।

प्रकाश आपके देह के रूप को प्रकाशित करता है, फिर प्रतिबिम्बित होकर वही रूपमय प्रकाश देखने वाले की चक्षु का विषय बनता है। आप अपने रूप पर संयम कर के उस रूप की ग्राह्य (ग्रहण किए जाने योग्य) शक्ति को रोक लेते हैं। तब उस प्रकाश का देह से उठ कर प्रतिबिम्बित (Reflect) होना रुक जाने से

उसका सम्बन्ध उस व्यक्ति के चक्षु से नहीं होता और उसे आपकी देह दीखनी बन्द हो जाती है।

२२. सोपक्रमं च निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।

अर्थ—कर्म दो प्रकार के हैं—(१) सोपक्रमं (प्रारब्ध) और (२) निरुपक्रमं (संचित) तत्संयमात् (उन पर संयम करने से) उपरान्त (मरण समय तक का) ज्ञानम् (ज्ञान होता है)।

पूर्वकृत कर्म दो श्रेणियों में रखे जाते हैं—(१) जिनके फल-विपाक का उपक्रम (आरम्भ) हो चुका है अर्थात् प्रारब्ध कर्म जिनके फल-विपाक-रूप यह जन्म है। इसमें मिलने वाले दुःख-सुख रूप भोग भोगने और उनके भोगने के लिए आयु का काल निर्धारित है, (२) वे हैं, जिनके फल विपाक का आरम्भ अभी नहीं हुआ है, वे सञ्चित कर्म कहलाते हैं। उन सञ्चित कर्मों के फल-विपाक का उपक्रम भी इस जन्म में किया जा सकता है, जिनके विपाक में थोड़ी ही कमी है और उस कमी को नये-नये कर्मों के द्वारा पूरा किया जा सकता है। माता-पिता, विद्वान्, महात्मा, गुरुजन और देवताओं की सेवा, मान, पूजा, सत्कार द्वारा उपार्जित पुण्य आदि शुभकर्मों से शुभसञ्चित कर्मों के विपाक का उपक्रम आरम्भ हो जाता है। इसके विपरीत विश्वासघातादि तीव्र दुष्कर्म करने से संचित अशुभ कर्मों के विपाक का उपक्रम हो जाता है। उन पर संयम करने का फल उस विपाक के स्वरूप

और उनके भोगों की अवधि, रूप, आयु आदि के ज्ञान का देने वाला होगा।

२३. मैत्र्यादिषु बलानि।

अर्थ—मैत्र्यादिषु (मैत्री, करुणा, मुदिता में संयम करने से) बलानि (उनमें बल का उत्कर्ष आ जाता है)।

मैत्री के भाव पर संयम करने से मैत्री का भाव बलवान हो जाता है, इसी प्रकार करुणा और मुदिता का भाव भी। परन्तु अभावात्मक होने के कारण उपेक्षा पर संयम नहीं हो सकता और—

२४. बलेषु हस्तिबलादीनि।

हाथी आदि पशुओं के समक्ष आ जाने पर, उनके बल पर संयम करने से उनके जैसा ही बल आ जाता है।

२५. प्रवृत्यालोकन्यासात्सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टज्ञानम्।

अर्थ – प्रवृत्ति (प्रथम पाद के ३६वें सूत्र में जिन विषयवती प्रवृत्तियों का वर्णन है, उनके) आलोक (प्रकाश के) न्यासात् (लगाने से) सूक्ष्म व्यवहित (सूक्ष्म, दृष्टि में न आने वाले) विप्रकृष्ट (दूर स्थित पदार्थों का) ज्ञानम् (ज्ञान होता है)।

इस प्रवृत्यालोक को ही दिव्य प्रकाश या दिव्य दृष्टि कहते हैं। अब आगे विशोका ज्योतियों पर संयम करने का फल कहते हैं, जिनका वर्णन प्रथम पाद के ३७वें सूत्र में है।

२६. भुवनज्ञानम् सूर्ये संयमात्।

सूर्य पर संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है।

सारा भुवन (सूर्य-मण्डल) सूर्य के आश्रित है, वह सारे ब्रह्माण्ड का नेत्र है। सूर्य से यहां बाह्य स्थित भौतिक सूर्य पिण्ड नहीं समझना चाहिए वरन् सब विशोका ज्योतियों के दर्शन सुषुम्ना नाड़ी में होते हैं, इसीलिए उसे सूर्यद्वार भी कहते हैं। यहां सूर्य से अभिप्राय वहीं दीखने वाले सूर्य से है। इसी प्रकार नीचे के तीन सूत्रों में चन्द्र और ध्रुव का अर्थ समझना चाहिए। ये ध्यान द्वारा अन्तर में दीखें, तब उन पर संयम करना है।

२७. चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्।

चन्द्र पर संयम करने से ताराव्यूह का ज्ञान होता है।

२८. ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।

ध्रुव पर संयम करने से उनकी गति का ज्ञान होता है।

२९. नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।

नाभिचक्र अर्थात् मणिपूर चक्र पर संयम करने से शरीर के व्यूह का ज्ञान होता है।

३०. कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।

कण्ठकूप (जिसमें से खाया-पिया उतरता है) पर संयम करने से भूख या प्यास तंग कर रही हो तो उस समय के लिए निवृत्त हो जाएगी, न कि सदा के लिए।

३१. कूर्म नाड्याम् स्थैर्यम् ।

कूर्म नाड़ी पर संयम करने से स्थिरता आती है। कूर्म नाड़ी उर: स्थान में है, इसे अंग्रेजी में Vagus nerve कहते हैं। कूर्म नाड़ी Vagus का ऊपरी भाग है जो छाती में है।

३२. मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।

मूर्धा ज्योति, जो सहस्रार में प्रकाश रूप दीख पड़ती है, उस पर संयम करने से सिद्धों के दर्शन होने लगते हैं।

३३. प्रातिभाद्वा सर्वम् ।

प्रातिभ ज्ञान आने पर ये ऊपर कथित सब ज्ञान उसी के द्वारा हो सकते हैं। जैसे सूर्य के उदय होने से पूर्व उषा का प्रकाश होता है, वैसे ही वह प्रकाश जो ज्ञान (आत्म ज्ञान) के पूर्व आता है, प्रातिभ ज्ञान कहलाता है।

३४. हृदये चित्तसंवित् ।

हृदयाकाश में संयम करने से अपने चित्त अर्थात् अन्तमन (Sub-conscious mind) का ज्ञान होता है।

यहां तक बहिर्विषयों के ज्ञान की ओर लक्ष्य रहा। अब अगले सूत्र में पुरुष अर्थात् अपनी आत्मा का ज्ञान कैसे होता है? सो कहते हैं—

आत्मा बुद्धि की सहायता से सब प्रकार के ज्ञान को जानता है। जानने वाला आत्मा है, बुद्धि उसके पास जानने का यन्त्र है और चित्त निरोध होने पर बुद्धि की सूक्ष्म दृष्टि संयम है। अब यह

विचारणीय है कि आत्मा, जो स्वयं देखने वाला है, वह अपने आपको कैसे देखेगा ? बुद्धि अचेतन है। वह आत्मा से युक्त हो कर सब विषयों को देखती है, पर आत्मा को नहीं देख सकती। कहा भी है—'आत्मा वा अरे केन विजानीयात्'—अरे ! आत्मा को देखने के लिए कौन यन्त्र लाया जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि बुद्धि में स्थित आत्मा स्वयं ही स्वयं को देखता है। जैसे मनुष्य आरसी में अपने प्रतिबिम्ब को देख कर अपने स्वरूप को जानता है। आरसी न हो तो अपना स्वरूप कैसे दीखे ? इसी प्रकार जब बुद्धि के मल, विक्षेप दोष दूर हो जाते हैं और शुद्ध सत्त्व चमकने लगता है, तब आत्मा अपने प्रतिबिम्ब को देखता है। उस प्रतिबिम्ब को आत्मा की प्रतिभा कहते हैं और तत्सम्बन्धी ज्ञान प्रातिभ ज्ञान कहलाता है। कठोपनिषद् में भी कहा है,—'यथादर्शे तथात्मनि' (इहलोके) ६, ५—अर्थात् इस लोक में ऐसा दर्शन होता है जैसे आदर्श (दर्पण) में। इस श्रुति पर शङ्कर भगवद्पाद नीचे दिये शब्दों में भाष्य करते हैं—

यथादर्शे प्रतिबिम्बभूतं आत्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्त विविक्तं तथेहात्मनि स्वबुद्धौ आदर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तं आत्मनो दर्शनं भवति।

अर्थ—जैसे आदर्श में प्रतिबिम्बभूत अपने को लोक अत्यन्त स्पष्ट देखता है, वैसे ही इस भूलोक में अपने अन्दर अपनी बुद्धि में, जो आदर्शवत् निर्मल हो गई है, स्पष्ट रूप से आत्मा का दर्शन होता है।

संयम करने वाला भी आत्मा ही है। संयम की क्रिया अन्तःकरण में होती है और संयम का अर्थ ध्येय विषय है, जिस का ज्ञान संयम द्वारा प्राप्त किया जाता है। बुद्धि का सत्त्व के जानने का विमर्ष रूपी धर्म ज्ञान है। जब तक संयम का अथ आत्मा से भिन्न है, बुद्धि की वृत्ति बहिर्मुखी कहलाती है। जब संयम का अर्थ स्वयं आत्मा ही होता है, तब उसे अन्तर्मुखी कहते हैं—

अब अगले सूत्र में पुरुष के ज्ञान की सिद्धि के लिए साधन कहते हैं—

३५. सत्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्।

अर्थ—सत्त्वपुरुषयो: (बुद्धि सत्त्व और पुरुष, दोनों के) अत्यंत (अत्यन्त, बिलकुल, सर्वथा) असंकीर्णयो: (जो दोनों भिन्न विपरीत धर्म वाले हैं) प्रत्ययाविशो (अविशेष रूप से दोनों का ज्ञान रहना) भोग: (भोगों का कारण है) परार्थात् (क्योंकि आत्मा से पर अन्य उसका अर्थ है) स्वार्थ (स्वयं परमात्मा को संयम का अर्थ बना कर) संयमात् (संयम करने से) पुरुषज्ञानम् (पुरुष का ज्ञान होता है)।

असंकीर्ण=एक-दूसरे से मिश्रित न होने योग्य। बुद्धिसत्व अचेतन परिणामी है, आत्मा चेतन अपरिणामी है, परन्तु उनका ज्ञान पृथक्-पृथक् स्पष्ट नहीं है।

प्रत्ययाविशेषः =दोनों का ज्ञान अविशेष रूप से रहता है,

क्योंकि मिथ्या अध्यास के कारण दोनों एक जैसे ही प्रतीत होते हैं। दोनों की अन्यता का ज्ञान नहीं होता,क्योंकि बुद्धि पर आत्मा की चेतना का अध्यारोपण हो रहा है और दोनों का तादात्म्य प्रतीत होता है। यह तादात्म्य ही भोग का कारण है। बुद्धि में दुःख-सुख के ज्ञान से आत्मा स्वयं को दुःखी-सुखी अनुभव करता है। इस मिथ्या अध्यास को दूर करने के लिए संयम का अर्थ स्वयं आत्मा को बनाना चाहिए।

स्वार्थ=स्वयं है अर्थ संयम का जो। अर्थात् बुद्धि सत्व प्रतिभासित चेतना पर संयम करने से आत्मा का ज्ञान होगा, जो सत्व से अन्य एवं भिन्न है। यह वेदांत की अहंग्रह उपासना और निदिध्यासन की प्रक्रिया है। वास्तव में निदिध्यासन योग ही है।

३६. ततः प्रातिभश्रावण वेदनादर्शास्वादवार्त्ता जायन्ते।

अर्थ—ततः (इस से) प्रातिभ, श्रवण, वेदन, आदर्श, आस्वाद, वार्त्ता सिद्धियां) जायन्ते (उत्पन्न होती हैं)।

प्रातिभ =पूर्ण ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने के पूर्व उषा के प्रकाश के सदृश ज्ञान का पूर्व रूप।

श्रावण=दिव्य श्रवण, वेदन=दिव्य स्पर्श, आदर्श=दिव्य दृष्टि, आस्वाद=दिव्य गंध। इनमें दूर श्रवण, दूर दृष्टि आदि भी अन्तर्हित हैं। परन्तु—

३७. ते समाधावुपसर्गाव्युत्थाने सिद्धयः।

अर्थ--ते (ये सिद्धियां) समाधौ (समाधि में) उपसर्गाः (रुकावट हैं) और व्युत्थाने (व्युत्थान के समय) सिद्धयः (सिद्धियां हैं)।

पुरुष-ज्ञान से आने वाली अन्य सिद्धियों का वर्णन अगले तीन सूत्रों में करते हैं।

३८. बधकारण शैथिल्यात् प्रचार संवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।

अर्थ--(पुरुष ज्ञानोत्तर) बंध कारण (बंधन का कारण जो भोगों की वासना है, उसके) शैथिल्यात् (शिथिल अर्थात् निर्बल हो जाने से) च (और) चित्तस्य (चित्त का) प्रचार (संचार) संवेदनात् (अनुभवगम्य हो जाने से) परशरीरा-वेशः (दूसरों के शरीरों में आवेश) उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। इसे शक्तिपात सिद्धि कहते हैं।

यहां यह शंकास्पद बात है कि क्या पर-शरीर से मृतक शरीर भी अभिप्रेत हो सकता है ? यदि हां, तो चित्त की अपने शरीर से उत्क्रान्ति 'प्रचार' पद से अभिप्रेत होगी और उस दशा में इन्द्रियां भी चित्त की अनुगामिनी होकर उस मृतक शरीर में प्रवेश करेंगी। चित्त की प्रचार अर्थात् सञ्चार गति पर जय हो जाने पर उस योगी को प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान,— पांचों प्राणों पर भी जय सिद्ध हो सकेगा। उसका फल आगे कहते हैं—

३९. उदान जयात् जलपंककंटकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।

अर्थ—उदान जयात् (उदान के जय होने से) जल (समुद्र, नदी आदि) पंक (कीचड़) कण्टक (कांटों) आदिषु (आदि पर चलते समय) असङ्ग (स्पर्श नहीं होगा अर्थात् उनके

ऊपर बिना छुए चल सकेगा) च (और) उत्क्रांतिः (चित्त को पांचों प्राण और इन्द्रियों सहित अपने शरीर से बाहर निकालने की शक्ति भी प्राप्त होगी)।

जब लिङ्ग देह स्थूल से बाहर निकलने लगे, तब उसे किसी मृतक देह में भी प्रविष्ट किया जा सकेगा।

४०. समान जयात् ज्वलनम्।

समान के जय से उस योगी का देह देदीप्यमान हो जाएगा और अग्नि सदृश तपने लगेगा। वह बाह्य समिधा आदि में भी अग्नि प्रकट कर सकेगा।

प्राण, अपान के जय को प्राणायाम कहते हैं। इसलिए यहां उनके जय का फल कहा गया। व्यान का जय उदान के जय होने पर उत्क्रान्ति के साथ और अन्य सब का जय स्वतः ही हो जाता है।

यहां तक स्थूल देह की सापेक्षता लिए हुए संयम के स्थूल एवं अध्यात्म स्तर के विभिन्न रूपों और उनसे होने वाली प्रासंगिक सिद्धियों का वर्णन किया गया। गत सूत्र से ज्ञात हुआ कि स्थूल देह से अलग होना भी सम्भव है, इसलिये आगे स्थूल देह की अपेक्षा छोड़कर संयम का क्या रूप हो सकता है?— यह दिखाया जाएगा। पहले दो सूत्रों में इन्द्रियों और शरीर का बहिर तत्त्वों से आधिदैविक सम्बन्ध कहते हैं, फिर स्थूल देह से निरपेक्ष चित्तावस्था का स्वरूप कहेंगे।

४१. श्रोत्राकाशयोःसम्बन्ध संयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ।

अर्थ—श्रोत्र (श्रवणेन्द्रिय) आकाशयोः (और आकाश दोनों के) संबन्ध संयमात् (सम्बन्ध पर संयम करने से) दिव्यं श्रोत्रम् (दिव्य श्रोत्रेन्द्रिय का अनुभव आएगा) अर्थात् स्थूल देह के कर्णों की सापेक्षता छोड़कर, कान बन्द करने पर भी सुन सकेगा।

यह सूत्र दृष्टांत रूप में पांचों ज्ञानेन्द्रियों के संयम का द्योतक है अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय और वायु के सम्बन्ध पर संयम करने से दिव्य स्पर्शेन्द्रिय का, चक्षु और प्रकाश के सम्बन्ध पर संयम करने से दिव्य दृष्टि का, रसनेन्द्रिय और जल के सम्बन्ध पर संयम करने से दिव्य रसनेन्द्रिय का तथा घ्राण और पृथ्वी के संबन्धों पर सयम करने से दिव्य घ्राणेन्द्रिय का प्रादुर्भाव होता है।

४२. कायाकाशयोः सम्बन्ध संयमाल्लघुतूलसमापत्ते-श्चाकाश गमनम् ।

अर्थ—कायाकाशयोः (काया और आकाश के) सम्बन्ध सयमात् (सम्बन्ध पर संयम करने से) लघुतूलसमापत्तेश्च (और धुनी हुई रुई के सदृश शरीर को हलका कर के) आकाश गमनम् (आकाश में गति होती है)।

आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी बनती है, इसलिए पाचों में पूर्वापर कारण-कार्य सम्बन्ध है। ४१वें सूत्र में पांचों इन्द्रियों में दिव्य भाव उदय होने पर, तत्वों का पारस्परिक सम्बन्ध समझ में आने लगेगा। इन्द्रियों

का तत्त्वों से सम्बन्ध है और देह के पञ्चीकरण के संघात रूप तत्त्वों का पारस्परिक कारण-कार्य संबन्ध है। इन सब संबन्धों पर सयम करने से शरीर को, तत्त्वों के कार्य के कारण में विलीनीकरण द्वारा, धुनी हुई रुई के समान हलका किया जा सकेगा। इस क्रिया का नाम भूत जय है जिसका विशेष स्पष्टीकरण ४६वें सूत्र में होगा।

४३. बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।

बहिर अकल्पिता वृत्ति को महाविदेहा वृत्ति कहते हैं, उससे प्रकाश के आवरण का क्षय होता है।

मन की गति इन्द्रियों के पीछे-पीछे बहिर्गामिनी होती है और इन्द्रियां अपना कार्य दो प्रकार से करती हैं,—सामान्यता स्थूल देह की सहायता से अर्थात् वे देहाभिमान की अपेक्षा रखती हैं, दूसरे देहाभिमानी की अपेक्षा छोड़कर जिनका वर्णन ४१वें सूत्र में है, जिनको दिव्य इन्द्रियां कहा गया है। उस समय भी चित्त में बहिर्वृत्तियां तो रहेंगी ही, परन्तु विदेहा होंगी। पहली कल्पिता है, दूसरी अकल्पिता, क्योंकि वही देह-बन्धन से रहित स्वतन्त्र इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति है, देह के परतन्त्र होकर उनकी स्वाभाविकता नष्ट हो गई है। बहिरकल्पिता वृत्ति को महाविदेहा अवस्था कहते हैं। इसके उदय होने पर भौतिक देह के कारण जो तामसिक आवरण छाया हुआ है, वह नष्ट हो जाता है। पूर्व के सूत्रों, जैसे सूत्र ३६ से ज्ञात होता है कि देहाभिमान की अपेक्षा रहते भी दिव्य श्रवणादि सिद्धियां आती हैं। वे बहिर्कल्पता

वृत्तियां हैं, जिनको विदेहा वृत्ति कहते हैं। सामान्य वृत्तियां कल्पिता सदेहा वृत्तियां हैं। विदेह वृत्तियों के सिद्ध होने पर महाविदेहा सिद्ध होती हैं।

भूतजय के लिए विशेष संयम नीचे दिए सूत्र में बतलाते हैं—

४४. स्थूल स्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमात् भूतजयः।

स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्व,--पांचों पर सयम करने से भूतजय होते हैं।

स्थूल पृथिवी में पांच तत्त्व हैं,—आधे में पृथिवी, आधे में अन्य चारों। इसी प्रकार अन्य तत्त्वों को जानो। पृथिवी में पांचों शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध हैं। जल में गंध छोड़कर चार, तेज में गंध, रस छोड़कर तीन, वायु में शब्द, स्पर्श और आकाश में शब्द मात्र,---यह तत्वों का स्थूल रूप है। पृथिवी में काठिन्य, जल में तरलपना और स्नेहशीलता, तेज में उष्णता, वायु में फैलने की शक्ति और आकाश में सर्वव्यापकता,--ये उनके स्वरूप हैं। पृथिवी का गंध, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द सूक्ष्म रूप है जिन्हें तन्मात्रा कहते हैं, जो तमप्रधान महत्तत्व के अन्वय के विकार हैं। प्रकृति का अर्थत्व भोग और अपवर्ग दोनों हैं। इस प्रकार संयम द्वारा भूतों का जय होता है। पांचों तत्वों को यहां भूत कहा गया है।

आगे भूतजय का फल कहते हैं—

४५. ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च।

अर्थ—ततः (उस भूत जय से) अणिमादि (अणिमा, महिमा,

लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशत्व) प्रादुर्भाव (का प्रदुर्भाव होता है) काय संपत् तद्धर्म (और काय संपत् के धर्मों का जिनका वर्णन अगले सूत्रों में है) अनभिघातश्च (अभिघात अर्थात् रुकावट करने वाला कुछ नहीं होता)।

४६. रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्।

रूप, लावण्य, बल, वज्र तुल्य शरीर होना,—ये काया की संपत् हैं।

भूतजय होने के पश्चात् इन्द्रियों का जय कहते हैं—

४७. ग्रहण स्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्व संयमादिन्द्रिय जयः।

अर्थ—ग्रहण (पाचों इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने की शक्ति) स्वरूप (श्रवण, दर्शनादि का ज्ञान) अस्मिता, अन्वय (सत्व, रज, तम का अन्वय) अर्थवत्व (भोगापवर्ग) पर संयम करने से इन्द्रियों का जय होता है। इस का फल यह है—

४८. ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।

अर्थ—ततः (इन्द्रिय जय से) मनोजवित्वं (मन की गति के साथ शरीर की गति होना) विकरण भावः (शरीर की अपेक्षा छोड़कर इन्द्रियों की इच्छानुकूल प्रवृत्ति) प्रधान जयश्च (और अव्यक्त मूल प्रकृति का भी जय) हो जाता है।

ये तीनों सिद्धियां मधुप्रतीका कहलाती हैं।

इस के पश्चात् पुरुष और बुद्धिसत्व की अन्यता के ज्ञान का फल कहते हैं—

४९. सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च ।

अर्थ—सत्व (बुद्धि) पुरुष (आत्मा) अन्यताख्याति मात्रस्य (दोनों की अन्यता भिन्नता के ज्ञान की मात्रा जिस योगी को पूर्ण उदय हो गई है, उसे) सर्वभावाधिष्ठातृत्व (सब भावों पर अधिष्ठातृत्व अर्थात् सर्वशक्तिमत्ता) सर्वज्ञातृत्वं च (और सर्वज्ञता आ जाती है) वह ईश्वर तुल्य सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ हो जाता है। इस सिद्धि को विशोका कहते हैं। परन्तु—

५०. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।

अर्थ—तत् (उस सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता से) वैराग्यादपि (भी वैराग्य होने पर) दोष बीज क्षये (दोष के बीज रूपी वासना का क्षय होने पर) कैवल्यम् (कैवल्य मोक्ष पद की प्राप्ति होती है)।

अगले सूत्र में देवताओं के विघ्नों से बचते रहने के लिए चेतावनी है।

५१. स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसङ्गात् ।

अर्थ—स्थानि (उच्च स्थानीय देवगणों से) उपनिमन्त्रणे (निमंत्रित होने पर) संग (उन का संग) स्मय (और

अभिमान) अकरण (नहीं करना चाहिए) पुनः (फिर) अनिष्ट प्रसंगात् (अनिष्ट का प्रसंग होने के कारण)।

योगी चार श्रेणी के होते हैं—(१) कल्पिक (२) मधुभूमिक (३) प्रज्ञा ज्योति (४) अतिक्रान्त भावनीय। इन में जिन का ज्ञान केवल मात्र प्रवर्तित होता है, वे प्रथम श्रेणी के हैं, दूसरे वे हैं जिन को ऋतंभरा प्रज्ञा का उदय हो गया है, तीसरी श्रेणी के वे हैं जिन्हें भूतेन्द्रिय जय हो गया है और जो मधुप्रतीका एवं बिशोका भावित (साधित) और भावनीय (साधनीय) सिद्धियों के लिए कृतरत्तबन्ध हैं या विहित साधनयुक्त हैं। चतुर्थ श्रेणी के अतिक्रान्त भावनीय हैं, जो सब सिद्धियों का मोह त्याग कर परम वैराग्य युक्त हैं और जिन का एक मात्र लक्ष्य पुरुषार्थ ही है, ये सप्तभूमि प्रज्ञा प्राप्त होते हैं। इन में प्रथम श्रेणी वालों को तो देवताओं के दर्शनों की सम्भावना ही नहीं। तीसरों और चौथों को महेन्द्र और ब्रह्मादिक भी नहीं गिरा सकते। रहे दूसरी श्रेणी के मधुभूमिक अर्थात् जो मधुमति भूमिका में हैं। यह भूमिका ऋतंभरा के उदय होने पर आती है। तब उसे स्थानीय देवगण निमंत्रित करते हैं और कहते हैं—"आइए, रमण कीजिए, यहां के भोग कैसे सुन्दर हैं, कैसी सुन्दर कन्या हैं, जरा-मृत्यु को काटने वाली यह रसायन है, आकाशगामी विमान हैं। यह कल्प वृक्ष है, यह पुण्य मंदाकिनी नदी है, यहाँ सिद्ध महर्षि हैं, उत्तमानुकूला अप्सरायें हैं जिनकेदिव्य श्रोत्र-चक्षु, वज्र तुल्य शरीर हैं। यह सब आपने अपने गुणों से उपार्जित किया है। आइये! इस अजर-अमर

देवताओं को भी प्रिय स्थान को आपने प्राप्त कर लिया है !" इस प्रकार कहे जाने पर संग दोषों का विचार करे—"संसार के प्रज्वलित अंगारों में तपते हुए मैंने, जो जन्म-मरण के अंधकार में पड़ा हुआ था, किसी प्रकार क्लेशतिमिर विनाशक यह योग-प्रदीप सिद्ध किया है, उसे यह तृष्णा, योनिविषय रूपी आंधी बुझा न दे। इतने परिश्रमसाध्य इस प्रकाश को पाकर इन मृगतृष्णा रूपी प्रलोभनों में पड़कर फिर उसी धधकती हुई संसाराग्नि में अपने को ईंधन बनाऊं" और उनसे कहे,—"आपके लिए स्वस्ति अभिवादन करता हूं" तथा निश्चित् मति होकर समाधि में लग जाय। संग का इस प्रकार त्याग करके स्मय भी न करे कि देखो मैं इन देवताओं का भी प्रार्थनीय हो गया हूँ वरन् अपने को मृत्यु द्वारा केश पकड़ा हुआ जान कर उधर ध्यान भी न दे। इस प्रकार वह छिद्रान्तरप्रेक्षी योगी अपनी कमजोरियों को देखता हुआ नित्य साधन में यत्नशील, प्रमाद-रूपी विवरों से सावधान और यह समझता हुआ कि इनसे क्लेशों को बल मिलेगा तथा फिर अनिष्ट-प्रसंग आयगा, संग और स्मय दोनों से बचता हुआ, भावित स्तरों को दृढ़ करता हुआ भावनीय अर्थ के अभिमुख होवे।

सूत्र ३५ में बताए हुए साधनक्रम से पुरुष रूपी अर्थ पर संयम द्वारा, भूतेन्द्रिय जय द्वारा मधुप्रतीका की और सत्व-पुरुष की अन्यता ख्याति द्वारा विशोका सिद्धि की प्राप्ति तक जो साधनक्रम कहा गया है, उस में एक ओर अपरिणामी का और

दूसरी ओर उससे विपरीत परिणामी सत्व का भी ज्ञान होता है। परिणाम में एक ओर तो परिणत होने वाले महत्तत्व तक प्रकृति के स्थूल-सूक्ष्म त्रिगुणात्मक विकार हैं और दूसरी ओर परिणाम क्रम भी है जिस में काल के अति सूक्ष्म विभाग में उनके अन्वय का सूक्ष्म प्रवाह चलता रहता है। सत्व के धर्म रूपी अन्वय पर संयम करते समय प्रधानतः प्रकृति के तत्त्वों पर ही लक्ष्य रहता है, जिसका फल ऊपर कही मधुप्रतीका और विशोका सिद्धियों की उपलब्धि है। अब आगे बताते हैं कि काल-प्रवाह के सूक्ष्म विभाग रूपी क्षणों पर संयम करने का क्या फल है ?

५२. क्षण तत्क्रमयोः संयमात् विवेकजं ज्ञानम्।

अर्थ—क्षण (काल का अतिसूक्ष्म विभाग) तत्क्रमयोः (और उसके प्रवाह का क्रम, दोनों पर) संयमात् (संयम करने से) विवेकजं (विवेक से उत्पन्न होने वाला) ज्ञानम् (ज्ञान होता है)। विवेक ज्ञान इतना सूक्ष्म होता है कि—

५३. जातिलक्षणदेशैरन्यतान्वच्छेदात्तुल्योस्ततः प्रतिपत्तिः।

अर्थ—जातिलक्षणदेशैः (जाति, लक्षण और देश की) अन्यता (भिन्नता की) अन्वच्छेदात् (पृथकता के अभाव से) तुल्योः (दो एक समान पदार्थों की) ततः (विवेकज ज्ञान से) प्रतिपत्तिः (पहचान हो सकती है)।

उदाहरणार्थ कोई मनुष्य अपने बाग में से सन्तरे तोड़ कर दो थैलों में रखता जाता है। उनमें से कुछ नागपुरी जाति के

हैं और कुछ देशी। घर आकर उनको अलग-अलग जाति के अनुसार पहचान कर छांट सकता है। फिर कुछ बहुत पके हैं, कुछ कच्चे हैं। उनकी पहचान भी कच्चे-पके के लक्षणों को देखकर कर सकता है। कुछ ऐसे वृक्षों के हैं जिन का फल मीठा होता है। उन को वह पृथक थैले में रखता गया, इसलिए थैले के देश से उनको पहचान सकता है। अब मानो उसने एक ही जाति के, एक ही वृक्ष के, एक ही थैले में दो सन्तरे रखे, जो एक समान ही रूप, रंग और नाप के थे। इन्हें तोड़ते समय उस को यह भावना उदय हुई कि प्रथम तोड़ा हुआ फल तो मैं इष्टदेव को चढ़ाऊंगा और पीछे तोड़ा हुआ गुरु को अर्पण करूँगा। परन्तु घर आकर उसको याद नहीं रहा कि उनमें से कौन-सा पहिले तोड़ा था और कौन-सा पीछे। विवेकज ज्ञान से वह दोनों में अन्तर जान सकेगा।

अब विवेकज ज्ञान का स्वरूप कहते हैं—

५४. तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।

अर्थ—तारकं (तारक) सर्वविषयं (सब विषयों का) सर्वथा विषयं (विषय की पूर्वापर सब अवस्थाओं का ज्ञापक) अक्रमं च (और क्रम रहित अर्थात् एक साथ युगपद) इति (ऐसा) विवेकजं ज्ञानं (विवेक से उत्पन्न ज्ञान होता है)।

तारकं=जो संसार-सागर से तारने वाला, प्रतिभोत्पन्न, दूसरों के उपदेश से स्वतन्त्र हो। सर्व विषयं=जिस से कुछ भी अज्ञात न रहे। सर्वथाविषयं=पूर्वापर के ज्ञान सहित।

विवेकज ज्ञान कैवल्य का साधक है या बाधक ? इस पर कहते हैं—

५५. सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ।

अर्थ—सत्व पुरुषयोः (सत्व बुद्धि और पुरुष दोनों की) शुद्धि साम्ये (शुद्धि की साम्य अवस्था होने पर) कैवल्यम् (कैवल्य पद प्राप्त होता है) ।

विवेक ख्याति तो कैवल्य की साधक है, परन्तु विवेक ख्याति से उत्पन्न सिद्धि रूप ज्ञान उसका साधक नहीं। वह बाधक भी हो सकता है ।

जब बुद्धि सत्त्व, रजस्तमोमल शून्य, पुरुष के पृथकत्व अन्यता ख्याति मात्र क्रियायुक्त, दग्धक्लेशबीज है, तब वह शुद्धि के कारण पुरुष सदृश है। उस समय भोगों के अभाव के कारण पुरुष की शुद्धि भी औपचारिक अर्थात् कहने मात्र के लिए ही है, वास्तव में पुरुष तो कभी अशुद्ध था ही नहीं। इस अवस्था में सिद्धियों सहित या बिना सिद्धियों के ही यह अवस्था प्राप्त होने पर कैवल्य पद कहलाती है। क्लेशबीज दग्ध होने पर अन्य ज्ञान की कोई अवस्था नहीं रह सकती।

क्लेशों का अभाव होने पर कर्मविपाक का भी अभाव हो जायगा। इस अवस्था में सब गुण अपना-अपना कार्य समाप्त करके पुरुष के सामने पुनः दृश्य रूप से उपस्थित नहीं होंगे। तब पुरुष स्वरूप मात्र ज्योति, अमल और केवली हो जायगा।

४. कैवल्यपाद

१. जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ।

अर्थ—जन्म से, औषधि के सेवन से, मन्त्रों के अनुष्ठानों से, तप और समाधि से उत्पन्न होने वाली पांच प्रकार की सिद्धियां होती हैं।

तीसरे पाद में जिन सिद्धियों को कहा गया है, वे सब समाधिजा सिद्धियां हैं। यदि कोई योगी योगभ्रष्ट होकर दूसरा जन्म ग्रहण करे तो उसे उसकी पूर्वजन्मोपार्जित सिद्धियां जन्म से ही प्राप्त हो सकती हैं अथवा औषधि, मन्त्र या तप का निमित्त पाकर प्रकाश पा जाती हैं।

परन्तु जन्म, औषधि, मन्त्र तथा तप से उत्पन्न होने वाली सिद्धियां स्थिर नहीं रहतीं और अल्पवीर्या होती हैं। उनको कल्पिता सिद्धियां कहते हैं। समाधि से आने वाली सिद्धियां वासना रहित चित्त में आत्म-शक्ति की स्वाभाविक बाढ़ का परिणाम हैं। वे स्थिर भी होती हैं और महावीर्या भी। उन्हें अकल्पिता सिद्धियां कहते हैं। वासनाओं का बीज राग, द्वेष और अभिनिवेश में रहता है। चित्त जब वीतराग-भय-क्रोध हो जाता है और अस्मिता मात्र रह जाती है, तब उस वासना रहित चित्त में उन सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है।

यद्यपि सिद्धियां आत्मा की शक्तियों की ही अभिव्यक्ति मात्र हैं, परन्तु उन का आधार प्रकृति ही है, इसीलिए कहते हैं कि—

२. जात्यान्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात् ।

अर्थ—जात्यान्तर (जन्मान्तर में जो) परिणाम (परिवर्तन होता है, वह) प्रकृत्यापूरात् (प्रकृति के प्रवाह के कारण होता है)।

प्रकृति का प्रवाह अटूट है। भौतिक देह के नष्ट हो जाने से चित्तादि सूक्ष्म तत्त्वों का संघात जो नष्ट नहीं होता, वह तो अपने क्रम से प्रवाहित होता ही रहता है और नए शरीर का निर्माण कर लेता है। जैसे उसके संस्कार होते हैं, तद्रूप ही वह दूसरा देह धारण करता है। देहों का बनना, बिगड़ना प्रकृति के परिणामों का फल है। आत्म-स्थिति में कोई सिद्धि नहीं होती, व्युत्थान के समय बहिर्मुख चित्त होने पर सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। एक स्थूल देह से दूसरे में उत्क्रमण करते समय चित्त जिन शक्तियों से युक्त रहता है, उनको अपने साथ ले जाता है। चित्त भी प्रकृति का अंग है और प्रकृति के नियमों के अनुसार प्रवाहित होता है क्योंकि प्रकृति स्वभावतः परिणामिनी है। अब यह शंका होती है कि जब प्रकृति अपना कार्य करती ही है तो दूसरे जन्म में पूर्वोपार्जित सिद्धियों के प्रकाश पाने के लिए औषधि, मन्त्रानुष्ठान अथवा तप की आवश्यकता क्यों कही ? इसका उत्तर देते हैं—

३. निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनाम् वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।

अर्थ—निमित्तं (निमित्त मात्र है) अप्रयोजकं (प्रयोजक अर्थात् बनाने वाला नहीं है) प्रकृतीनां (प्रकृतियों के) वरण भेदः (रुकावट का टूटना) तु (परन्तु) ततः (औषधि, मंत्र, तप से) क्षेत्रिकवत् (किसान की तरह)।

अर्थात् प्रकृतियों के परिणाम में जो रुकावट आ जाय उसको दूर करना मंत्र, तपादि का काम है, इसलिए वे निमित्त मात्र हैं न कि प्रयोजक। जैसे किसान एक से दूसरे खेत में पानी शिर पर रख कर नहीं ले जाता, पानी के प्रवाह को रोकने वाली रुकावट को हटा देता है और पानी स्वतः बह जाता है।

४. निर्माणचित्तान्यस्मिता मात्रात् ।

अर्थ—निर्माण चित्तानि (अनेक चित्तों का निर्माण किया जा सकता है) अस्मिता मात्रात् (अस्मिता मात्र से)।

वासना रहित अस्मिता मात्र चित्त में इतनी शक्ति होती है कि वह वैसे ही अनेक चित्तों का निर्माण कर सकता है और उनसे नाना प्रकार के कार्य करा सकता है। वे बहुत-से निर्माण चित्त भी अपने-अपने कार्यों को करने के लिए उतने ही शरीर बना लेते हैं और वह अस्मिता मात्र चित्त अकेला—

५. प्रवृत्ति भेद प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।

अर्थ—प्रवृत्ति भेद (सब की प्रवृत्ति की भिन्नता का) प्रयोजकं (प्रयोजक होता है) चित्तं एकं (वह एक ही चित्त) अनेकेषाम् (उन अनेक निर्माण चित्तों का)।

अर्थात् सब निर्माण चित्त उस एक चित्त की ही प्रेरणा के अधीन कार्य करते हैं, स्वतंत्र रूप से कोई कार्य नहीं कर सकते।

ऐसी आख्यायिका है कि कपिल भगवान् ने अपने शिष्य आसुरि मुनि को निर्माण चित्त द्वारा ही सांख्य शास्त्र का उपदेश किया था। यह रहस्य आसुरि मुनि के शिष्य पंचशिखाचार्य ने अपने कहे सूत्रों में प्रकाशित किया है। परन्तु वे सब चित्त अपने प्रयोजक चित्त के संकल्पानुसार कर्म-संस्कारों से युक्त होंगे और उन में—

६. तत्र ध्यानजमनाशयम्।

अर्थ—तत्र (उन में) ध्यानजं (जो ध्यान से उत्पन्न चित्त है, वह) अनाशयम् (संस्काराशय से रहित होता है)।

अर्थात् समाधिजा प्रज्ञायुक्त चित्त जो प्रयोजक है, स्वतः संस्कारों से रहित रहता है। निर्माण चित्तों के संस्कार उस पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते और उनको जब वह चाहता है, फिर विलीन कर सकता है, इसलिए वे अन्य प्राणियों के सदृश स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं रखते। न उन को बंधन है, न मोक्ष। वे तो योगी के हाथ में यंत्रवत् कार्य करते हैं, क्योंकि

७. कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

अर्थ—योगी के कर्म न तो शुक्ल होते हैं, न कृष्ण। अन्य लोगों के कर्म त्रिविध होते हैं—

१) पुण्यात्मक (२) पापात्मक (३) मिश्रित। विहित, शास्त्रोक्त कर्म शुक्ल और निषिद्ध कर्म कृष्ण होते हैं।

८. ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।

अर्थ—ततः तत् (उन त्रिविध कर्मों के) विपाक (फल देने योग्य अवस्था रूपी परिपाक के) अनुगुणानाम् (अनुसार गुण वाली ही) वासनानां (वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है)।

अर्थात् शुक्लों के फल देने योग्य होने पर पुण्य करने की वासना उदय होती है, मिश्रित कर्मों से मिश्रित वासना का प्रादुर्भाव होता है और कृष्ण कर्मों के फल देने योग्य पकने पर पाप कर्मों की वासना का उदय होता है।

परन्तु वे कभी नष्ट नहीं होतीं—

९. जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ।

अर्थ—जाति (जन्म) देश (लोकलोकान्तर) काल (अनेक युगों के बीतने पर भी) व्यवहितानामपि (छिपी रहने पर भी उन का) आनन्तर्यं (तांता बना रहता है) स्मृति संस्कारयोः (स्मृति और संस्कार दोनों का) एकरूपत्वात् (एक स्वरूप होने के कारण)।

जैसे एक देश से दूसरे देश में चले जाने से या बहुत समय बीत जाने पर भी स्मृति बनी रहती है, इसी प्रकार कितने भी जन्म हो जाने के पश्चात् अनेक युग व्यतीत हो जाने पर भी, चाहे जन्म किसी भी देश या लोक में क्यों न हो, वासनाएं बनी ही रहती हैं क्योंकि वे पूर्व संचित संस्कारों का ही तो परिणाम हैं। स्मृति और संस्कार एक ही वस्तु हैं।

इन वासनाओं का प्रारम्भ कब हुआ ? इस पर कहते हैं कि—

१०. तासामनादित्वं चाशिषोनित्यत्वात् ।

अर्थ—तासां (उन वासनाओं का अनादित्व भी है) च (और अर्थात् आनन्तर्य ही नहीं) आशिषः (आशीष अर्थात् मैं सदा जीवित रहूँ, मेरा कुशल हो, इस वासना के) नित्यत्वात् (नित्य रहने से ज्ञात होता है)।

वासना अनादि है, यह प्रत्येक प्राणिमात्र में जीवित रह कर सदा सुखी रहने की नित्य इच्छा से प्रमाणित है। और वे—

११. हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावेतदभावः ।

अर्थ—हेतु (कारण) फल (पूर्ति रूपी फल जो जाति, आयु और भोगों के रूप में प्रतिफलित होते हैं) आश्रय (चित्त जिसके आश्रित वे रहती हैं और) आलम्बनैः (आलम्बन अर्थात् भोगों के विषय, चारों से) संगृहीतत्वात् (संगृहीत, एकत्रित होने के कारण) एषां (इन चारों के) अभावे (अभाव होने पर) तदभावः (उन भावनाओं का भी अभाव हो जाता है)।

पांचों क्लेश और उन से होने वाले कर्मों के विपाक जाति, आयु और भोग देते हैं,-यह पहले कहा जा चुका है। उन अच्छे-बुरे भोगों के संस्कार चित्त पर पड़ते रहते हैं। वे संस्कार ही वासना के कारण हैं। चित्त संस्कारों का आशय अर्थात् जमा रहने का स्थान है। इसलिए वासना का फल जन्म, आयु और भोग ही हैं जो भोगों के विषयों अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस,

गंध को पकड़ कर या उनका आलंबन रख कर इच्छा का रूप धारण कर लेती है। यदि उक्त चारों का अभाव हो जाय तो वासना का भी भाव मिट जायगा। वासना को निर्मूल कर देना ही मोक्ष कहलाता है। मोक्ष क्या है? 'वासना तानवं यत्' अर्थात् वासना को तनु करना ही मोक्ष कहलाता है। गीता में कहा है—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥'

अर्थात् असत् का कभी भाव नहीं होता और सत् का कभी अभाव नहीं होता। यहां वासनाओं का हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के भाव के साथ होना कहा गया है और इनके अभाव हो जाने पर अभाव कहा गया है। इससे क्या अभिप्राय है? क्योंकि उन भावात्मकों का न कभी अभाव संभव है और उस हालत में वासनाओं का भी अभाव सम्भव नहीं। इसलिए देखना चाहिए कि इन का क्या स्वरूप है? हम जानते हैं कि धर्मी का कभी अभाव नहीं होता, केवल धर्मों का परिणाम होता रहता है। यहां क्लेश चित्त के धर्म हैं, कर्म पदार्थों का क्रिया रूप धर्म है, जन्म-आयु शरीर के धर्म हैं, भोग और उनके संस्कार चित्त के धर्म हैं और वासना भी संस्कार का रूप होने के कारण चित्त का धर्म है। जगत के सब पदार्थों का रूप भी दृश्य का धर्म है। सांख्य के अनुसार जो चौबीस तत्त्व हैं वे भी प्रकृति के विकार होने के कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति के धर्म हैं। धर्मी केवल प्रकृति है और धर्मों के स्वरूप का अतीत अर्थात् भूत

और अनागत अर्थात् भविष्य में अभाव होता है और वर्तमान के क्षण में भाव होता है। यह बात अगले सूत्र में कही जाती है कि—

१२. अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् (अभावः)।

अर्थ—अतीत (गये) अनागतं (और नहीं आए समय के अनुसार) स्वरूपतः (स्वरूप से) अध्वभेदात् (भूत भविष्य के प्रवाह-भेद के कारण) अस्ति (होता है) धर्माणां (धर्मों का) अभाव। और—

१३. ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः।

अर्थ—ते (वे धर्म) व्यक्त सूक्ष्माः (व्यक्त और सूक्ष्म रूप में रहते हैं) गुणात्मानः (सत्वरजस्तमोगुण वाले)।

अर्थात् वे धर्म तीनों गुणों के व्यक्त होने पर भावात्मक और सूक्ष्म रूप में रहने पर अभावात्मक कहे जाते हैं। सारा जगत तीनों गुणों की विषम अवस्था में व्यक्त होता है और साम्यावस्था में अव्यक्त हो जाता है। उनकी व्यक्त दशा को वर्तमान कहते हैं और अव्यक्त दशा को भूत, भविष्य। उनकी अभिव्यक्ति का प्रवाह रूप यह परिणामी दृश्य है। परन्तु—

१४. परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्।

अर्थ—परिणामैकत्वात् (परिणाम में एकता का भाव रहने के कारण) वस्तुतत्त्वम् (धर्मी रूपी वस्तु-तत्त्व भाव से रहता है)।

अर्थात धर्मी में धर्मों का परिणाम होता रहता है, परन्तु

धर्मी का वस्तु-तत्त्व नहीं बदलता। जैसे सुवर्ण में अनेकों आभूषणों की विकृति रूपी परिणाम होता है, परन्तु सुवर्ण सदा सुवर्ण ही रहता है। रुई से धागा और वस्त्र बनने पर भी रुई रूपी वस्तु तत्त्व वही रहता है।

ऊपर यह दिखाया गया कि बाह्य दृश्य में परिणाम का रूप कैसा है? अब यह जानना भी आवश्यक है कि चित्त जो स्वयं परिणामी है, उसका दृश्य से संबंध होने का क्या परिणाम होता है?

१५. वस्तुसाम्येऽपि चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पंथाः।

अर्थ—वस्तुसाम्ये (वस्तु एक समान रहते) अपि (भी) चित्त भेदात् (चित्तों की भिन्नता से) तयोः (प्रत्येक चित्त और उसी एक वस्तु दोनों का) विभक्तः (भिन्न-भिन्न) पंथाः (रास्ते अर्थात् धारणायें) होती हैं।

जैसे मां अपने पुत्र से प्रेम करती है, सौतेली मां उसी बालक से द्वेष करती है और उसी बालक से कमजोर बालक उससे भय मानते हैं। इसलिए प्रत्येक चित्त का ज्ञान वस्तुतंत्र होते हुए भी अपने-अपने संस्कारों के वश भिन्न-भिन्न होता है, और—

१६. न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किम् स्यात्।

अर्थ—न (नहीं है) च (और) एक चित्त तंत्रं (एक चित्त के परतंत्र अर्थात् परिणामी चित्त की अनेक अवस्थाओं के अधीन वस्तु ज्ञान होने पर) वस्तु (धर्मी दृश्य पदार्थ) तत् (वह) अप्रमाणकं (भिन्न-भिन्न ज्ञात होने के कारण प्रमाणक नहीं

रहेगा, यदि ऐसी शंका की जावे) तदा (तो भी) किं स्यात् (क्या हुआ) अर्थात् यह शंका वृथा है।

प्रमाण में प्रमाता को प्रमेय वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है, परन्तु जब एक ही वस्तु को सब लोग अपने-अपने चित्त की भावना के अनुसार भिन्न-भिन्न देखते हैं और एक चित्त भी अपने परिणामी स्वभाव के कारण कभी एक दृष्टिकोण से तो कभी दूसरे दृष्टिकोण से देखता है तो उस वस्तु का यथार्थ ज्ञान कभी किसी को नहीं हो सकता और वह वस्तुतत्त्व अप्रमाणक सिद्ध होगा, इस शंका को वृथा की शंका कहकर उसका समाधान अगले सूत्र में करते हैं—

१७. तदुपरागोपेक्षत्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ।

अर्थ—तत (वह) उपराग उपेक्षत्वात् (उपरति या उपेक्षा की दृष्टि से) चित्तस्य (चित्त की) वस्तु ज्ञाताज्ञातम् (ज्ञात या अज्ञात वस्तु होगी)।

यदि उस वस्तु को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जायगा तो वह अज्ञात रहेगी और जितनी ध्यानपूर्वक बारीक दृष्टि से देखी जायगी, उतना ही उस वस्तु का ज्ञान सत्य होगा।

परन्तु जब हम चित्त की वृत्तियों को देखते हैं, तब धर्मी चित्त की धर्म रूपी बदलती रहने वाली वृत्तियां प्रमेय कही जाती हैं और देखने वाला पुरुष न बदलने वाला प्रमाता सिद्ध होता है। यही बात आगे कही जाती है—

१८. यदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।

अर्थ—यदा (जब) ज्ञाताः (ज्ञान का विषय होती हैं) चित्तवृत्तयः (चित्त की वृत्तियां) तत् प्रभोः पुरुषस्य (तो उस चित्त के स्वामी पुरुष के) अपरिणामित्वात् (अपरिणामी होने के कारण) वे ज्ञान का विषय बनती हैं। क्योंकि—

१९. न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ।

अर्थ—न (नहीं है) तत् (वह चित्त) स्वाभासं (स्वयं चेतन प्रकाश-युक्त) दृश्यत्वात् (दृश्य होने के कारण)।

चित्त को ज्ञाता नहीं कह सकते, यह स्वयं दीखने वाली वस्तु है। उसे देखने वाला उससे भिन्न होना चाहिये, क्योंकि—

२०. एक समये चोभयानवधारणम् ।

अर्थ—एक समये (एक ही समय युगपद) च (ही) उभय (दोनों, देखना और दीखना) अनवधारणम् (वह चित्त स्वयं धारण नहीं कर सकता)।

जब कोई अपने से अन्य को देखता है, तो वह स्वयं उसी समय अपना दृश्य नहीं बन सकता। यदि कहो कि चित्त को देखनेवाला अपरिणामी पुरुष क्यों मानना चाहिए, उसको देखने वाला कोई दूसरा अवान्तर चित्त हो तो—

२१. चित्तान्तरदृश्यत्वे बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ।

अर्थ—चित्तान्तर (दूसरे अन्य चित्त का उसे) दृश्यत्वे (दृश्य मानने पर) बुद्धिबुद्धेः (एक बुद्धि के पीछे अन्य बुद्धि,

उसके पीछे तीसरी, चौथी अनेक बुद्धियां मानने का) अति प्रसंगः (अति प्रसंग अथवा अनवस्थित्व दोष आता है) स्मृति संकरश्च (और अनेक बुद्धियों के विभिन्न ज्ञानों का संकरण (मिश्रण) होने से भ्रांत ज्ञान का परिणाम होगा)।

इसलिए एक ही चित्त को मानना चाहिए, जिस की वृत्तियों को दृश्य रूप से देखने वाले पुरुष का अपरिणामी होना सिद्ध होता है। अब यह समझना रह गया कि पुरुष चित्त की वृत्तियों का द्रष्टा कैसे बनता है, जबकि वह अपरिणामी है ? यह अगले सूत्र में कहते हैं—

२२. चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ।

अर्थ—चितेः (पुरुष का चिति शक्ति के) अप्रतिसंक्रमायाः (जो किसी के प्रति संक्रमण न करती अर्थात् गति वाली नहीं होती) तदाकारापत्तौ (बुद्धि से तदाकार प्राप्त करने पर) स्वबुद्धिसंवेदनम् (अपनी बुद्धि के ज्ञान वाली हो जाती है) इसलिए—

२३. द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तम् सर्वार्थम् ।

अर्थ—द्रष्टृ दृश्योः (द्रष्टा और दृश्य दोनों से) उपरक्तं (रंगा हुआ) चित्तं (चित्त) सर्वार्थम (सब विषयों को ग्रहण करता है) और—

२४. तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ।

अर्थ— तत् (वह चित्त) असंख्येय (असंख्य) वासनाभिः (वास-

नाओं से) चित्रं (चित्रित अर्थात् अङ्कित) अपि (भी) परार्थं (दूसरे अर्थात् पुरुष का कार्य करता है) संहत्य-कारित्वात् (द्रष्टा और दृश्य दोनों से उपरक्त होने के कारण)।

क्योंकि दृश्य पुरुष के लिए भोग और अपवर्गार्थ कहा जा चुका है। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यं'—'भोगार्थं परार्थत्वात् स्वार्थ संयमात् पुरुष ज्ञानम्'—देखें सूत्र ३५, पाद ३ की व्याख्या।

यहां तक वासना और चित्त का संबंध कहा गया। चित्त ही वासनाओं का आश्रय है, भोग उनके आलम्बन हैं, कर्मों के विपाक रूप जन्म, आयु और भोग फल हैं और क्लेश कारण हैं। ये चारों सत्वरजस्तम तीनों गुणों के धर्म हैं और तीनों गुण प्रकृति के धर्म हैं। इसलिए धर्मों के व्यक्ताऽव्यक्त होने से प्रकृति के समस्त दृश्य में परिणाम होता दीख रहा है। प्रकृति, जो धर्मी है, तत्व रूप से बनी रहती है। धर्मों के व्यक्त होने को उनका भाव और अव्यक्त होने को अभाव कहते हैं। इस अर्थ में वासनाओं का, उनके चतुर्विध कारणादि का अभाव होने पर, अभाव कहा गया है। परन्तु पुरुष स्वयं अपरिणामी है और उसकी चितिशक्ति अथवा चेतनपने का धर्म कभी अव्यक्त नहीं होता, सदा एक समान व्यक्त रहता है। केवल बुद्धि और उस के धर्मों से अध्यस्त होने पर परिणामी-सा प्रतीत होता है। वह स्वयं प्रकाशमान् है, बुद्धि और उसके धर्म प्रकाश्य हैं। जैसे पानी की तरंगों पर पड़ने वाला प्रकाश हिलता हुआ-सा दिखाई देता

है, वास्तव में प्रकाश नहीं हिलता, हिलता है पानी। इसी तरह चिति शक्ति को समझें। ऐसा जानने वाला विशेषदर्शी कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि—

२५. विशेषदर्शिन आत्मभावभावना निवृत्तिः।

अर्थ—विशेषदर्शिनः (विशेषदर्शी की) आत्मभाव भावना (अहंता की भावना, जो बुद्धि या चित्त से तादात्म्य होने का परिणाम है) निवृत्तिः (निवृत्त हो जाती है)।

(देखें पाद २, सूत्र ६ और २० की व्याख्या)। द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही हेय का हेतु है, दृश्य चाहे बाह्य इन्द्रियों का ज्ञान स्वरूप हो, चाहे चित्त को चित्रित करने वाली वासनाओं के रूप में हो। इसके उपरान्त—

२६. तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।

अर्थ—तदा (तब आत्मभाव भावना के निवृत्त होने पर) विवेक निम्नं (विवेक के नीचे दबा हुआ, विवेकपूर्ण) चित्तं (चित्त) कैवल्य प्राग्भारं (कैवल्य की प्रागावस्था अर्थात् पूर्वावस्था के भार से कैवल्य की ओर झुक जाता है)।

जैसे पानी का प्रवाह ऊपर से निम्न धरातल पर बहता है, वैसे ही जो चित्त वासनाओं के दबाव से दृश्य की ओर बह रहा था, वही अब विवेक के बोझ से कैवल्य की ओर बहने लगता है। परन्तु—

२७. तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।

अर्थ—तत् (उस चित्त में भी) छिद्रेषु (बीच-बीच में व्युत्थान

के समय अर्थात् चित्त की कमज़ोरियों में) प्रत्ययान्तराणि (ठहर-ठहर कर व्युत्थान के प्रत्ययों का उदय होता रहता है) संस्कारेभ्यः (व्युत्थान के संस्कारों की प्रबलता के कारण)।

उन को हटाने के लिए—

२८. हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।

अर्थ—हानं (हान) एषां (उन का) क्लेशवत् (क्लेशों के हान करने के पूर्व कथित साधनों सदृश) उक्तम् (कहा गया है)।

जैसे क्रिया योग द्वारा तनु करके प्रतिप्रसव क्रम पूर्वक ध्यान द्वारा क्लेशों का हान कहा गया है, वैसे ही इनका हान समझना चाहिए। देखें दूसरा पाद।

२९. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।

अर्थ—प्रसंख्याने अपि (ऊपर के सूत्रों में विवेकनिम्न कैवल्य-प्राग्भार चित्त की अवस्था, जिसमें कभी-कभी कमज़ोरी के कारण क्लेश-कर्मों के संस्कारों के व्युत्थान रूपी छिद्रों का सर्वथा अभाव नहीं हुआ है, वह अवस्था प्रसंख्यान कही गई है, उसमें भी) अकुसीदस्य (जिस योगी का चित्त गिरा नहीं है, कुत्सित होकर अवसीद नहीं हुआ है, तब) सर्वथा विवेकख्यातेः (सर्वथा विवेक के पूर्ण प्रकाश से) धर्म मेघः (धर्ममेघ संज्ञक) समाधिः (समाधि होती है)।

३०. ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः ।

अर्थ—ततः (उस धर्म मेघ समाधि से) क्लेश कर्म निवृत्ति (क्लेश और कर्मों से छुटकारा मिलता है) ।

जैसा गीता में श्री भगवान का उपदेश है—

उद्धरेतात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् (६-५)

प्रसंख्यान, विवेकख्याति और धर्म मेघ समाधि,—तीनों चित्त की अवस्था-भेद के नाम हैं । ख्याति और ख्यान एकार्थी शब्द हैं, एक में क्तिन् प्रत्यय है, दूसरे में ल्युट् प्रत्यय । ख्यान के पूर्व प्र और सं उपसर्ग लगाने से प्रसंख्यान शब्द बनता है अर्थात् जिस अवस्था में प्रकर्ष रूप से सम्यक् प्रकारेण ख्याति हो, वह अवस्था प्रसंख्यान कहलाती है। उसमें भी क्लेश-कर्म के संस्कारों का सर्वथा अभाव नहीं होता, परन्तु जब चित्त में सर्वथा विवेक का प्रकाश मेघवत् छा जाता है और क्लेश-कर्म के संस्कार निवृत्त हो जाते हैं, उस अवस्था में चित्तरूपी धर्मी का धर्म विवेकख्याति में बदल जाता है। उस समय चित्त समाधिस्थ हो जाता है। 'प्रसंख्यानेऽपि' कहने का तात्पर्य यह है कि यहां तक क्लेश-कर्मों के संस्कार योगी को गिरा सकते हैं । यहां भी जब वह नहीं गिरता, तब वह उनसे सुरक्षित होता है। क्योंकि धर्म मेघ समाधि के उपरान्त ही उनका हान होता है। उस समय योगी की अवस्था जैसी होती है, उसका लक्षण अगले सूत्र में कहते हैं--

३१. तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ।

अर्थ—तदा (तब) सर्व (सब) आवरण (प्रकाश को ढकने वाले परत रूपी) मलापेतस्य (मल दूर हो गया है जिसका उस को) ज्ञानस्य (ज्ञान के) अनन्त्यात् (अनन्त हो जाने से) ज्ञेयं (दृश्य रूपी ज्ञेय) अल्पम् (थोड़ा-सा किञ्चित् रह जाता है) अर्थात् दृश्य जगत् स्वप्नवत् दीखने लगता है। और—

३२. ततः कृतार्थानां परिणामक्रम समाप्तिर्गुणानाम् ।

अर्थ—ततः (उसके पश्चात्) कृतार्थानां (कृतार्थ) गुणानां (गुणों के अर्थात् जिन गुणों ने अपना भोग और मोक्ष देने का अर्थ अर्थात् कार्य समाप्त कर दिया है, उनके) परिणाम क्रम की समाप्ति हो जाती है।

जब गुणों का परिणाम क्रम समाप्त हो जाता है, तब वे अव्यक्त दशा में विलीन हो जाते हैं। अर्थात्—

३३. क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ।

अर्थ—क्षण प्रतियोगी (एक क्षण के पीछे दूसरे क्षण में) परिणाम (परिवर्तन जो) अपर (प्रथम से) अन्त (अन्त तक) निर्ग्राह्यः (ग्रहण किया अर्थात् जाना जाता है) क्रमः (वह क्रम कहलाता है)।

३२वें सूत्र में चित्तस्थ गुणों का परिणामक्रम निर्दिष्ट है। पहले गुणों का परिणाम प्रधान अव्यक्त से आरम्भ होकर दृश्य

के प्रसवाभिमुख भोगार्थ था। फिर योगी ने उनको उलट कर प्रतिप्रसव क्रम से प्रवाहित कर दिया, यहां तक कि फिर वे कार्य के कारण में विलीनीकरण द्वारा अव्यक्त दशा में समाप्त हो गये, जिसका अर्थ अपवर्ग था। इस प्रकार गुणों के परिणाम स्वरूप दृश्य का भोग और अपवर्ग दोनों अर्थ पूरे हो गये। तब—

३४. पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।

अर्थ—पुरुषार्थ (भोग और अपवर्ग रूप अर्थ) शून्यानां (जिन का शून्य हो चुका है, उन) गुणानाम् (गुणों का) प्रति-प्रसवः (कार्य का कारण में विलीनीभाव) कैवल्यं (कैवल्य मोक्ष है) स्वरूप प्रतिष्ठा (अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा) वा चितिशक्तेः (चिति शक्ति की) इति।

जब गुणों का प्रतिप्रसव क्रम समाप्त होने पर वे अपने कारण महत् तत्त्व सहित अव्यक्त में विलीन हो गये, तब चिति शक्ति, जो सदा अपरिणामिनी थी, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गई, क्योंकि उसके अध्यस्त होने के लिए कुछ नहीं रहा। वह केवल रह गई, इसीलिए इस अवस्था को कैवल्य कहा जाता है अर्थात् केवल रहने का भाव कैवल्य है॥ इति ॐ॥

समाप्त

सद्गुरुदेव-प्रणीत अन्य प्रकाशित ग्रन्थ-रत्न

१. शक्तिपात—यह छोटा-सा सूत्रात्मक ग्रंथ परम्परागत शैवी शक्ति-सम्पात के विधान एवं योग-विज्ञान के दार्शनिक सिद्धांतों का अपूर्व ग्रन्थ है। मू० १)।

२. साधन संकेत (द्वितीयावृत्ति)—यह साधन-सम्बन्धी ग्रंथ भी महायोग का साधन करने वाले साधकों के हितार्थ लिखा गया है। मू० ॥)।

३. Devatma Shakti (English)—यह अपूर्व ग्रंथ योग-शास्त्र-कथित आधारभूता कुण्डलिनी महाशक्ति के विशेष विज्ञान का है। जो लोग साधन परायण हैं एवं अपनी साधना का उत्कर्ष करना चाहते हैं, ऐसे योग से अनभिज्ञ परमार्थ-परायण जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक परम उपकारी है। मू० ५)।

४. सौन्दर्य लहरी (द्वितीयावृत्ति संशोधित एवं परिवर्धित)—सौन्दर्य लहरी पूज्यपाद श्री शङ्कराचार्य का भगवती महामाया जगदम्बा की स्तुति का स्तोत्र-ग्रंथ है जो अतीव गूढ़ एवं आध्यात्मिक भाव से परिपूर्ण है। श्री स्वामी जी महाराज ने इसकी हिंदी में आध्यात्मिक व्याख्या की है। महामाया आद्यशक्ति कुल कुण्डलिनी देवी के वास्तविक रूप का वर्णन किया है और मन्त्र-शास्त्र कथित श्रीविद्या के रहस्य को अच्छी तरह समझाया है। यह शक्ति-साधन का अपूर्व ग्रंथ है। मू० ५)।

५. आत्म प्रबोध—यह पुस्तक श्री स्वामी जी के समय-समय पर लिखे गये विविध लेखों का संकलन है। इन लेखों में

साधकों के लिए मनोनिग्रह, आत्म-शांति, आत्म-दर्शन आदि जैसे आवश्यक तथा जटिल विषयों पर अत्यन्त सरल एवं हृदय-ग्राही ढङ्ग से प्रकाश डाला गया है। पुस्तक साधकवर्ग के लिए पद-प्रदर्शक का काम करती है और अति उपयोगी है। मू० १)।

६. अध्यात्म विकास—इस पुस्तक में श्री स्वामी जी महाराज ने ज्ञान की सातों भूमिकाओं का बड़े सरल एवं सरस प्रामाणिक ढङ्ग से वर्णन किया है। मू० १।।)।

७. वैदिक योग परिचय—इस पुस्तक में वेदों के ही आधार पर योग का वास्तविक अर्थ, मार्ग और लक्ष्य दर्शाया है। पातञ्जल तथा कुण्डलिनी योग भी निस्सन्देह वैदिक योगमार्ग हैं तथा इनका भी लक्ष्य एकमात्र ब्रह्मप्राप्ति है—यह भली-भांति सिद्ध किया गया है। इस विषय में रुचि रखने वाले जिज्ञासुओं के लिए अनुभवी महात्मा की यह कृति अत्योपयोगी सोपान है। मू० ३।।)

८. प्राणतत्व—जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है, इसमें प्राणतत्व के विषय में स्पष्टीकरण किया गया है। मू० १)।

९. साधन-पथ—इस पुस्तक में ब्रह्मचारी श्री शिवोम् प्रकाश जी ने साधन-सम्बन्धी कुछ ऐसे अनुभूत सुझावों सहित आवश्यक ज्ञातव्य को प्रकट किया है जिन पर चलने से साधक की साधन में अभीष्ट गति सहज संभव है। मू० १)।

—: प्राप्ति स्थान :—

[१] संन्यास आश्रम, देवास (म०प्र०)।

[२] विज्ञान मन्दिर (विज्ञान प्रेस), ऋषिकेश (उ०प्र०)।